DOHAKOṢA

WITH NOTES AND TRANSLATIONS

BY

PRABODH CHANDRA BAGCHI, M.A., D.Lit.,
Lecturer, Calcutta University.

PUBLISHED BY THE
UNIVERSITY OF CALCUTTA
1935

PREFACE

Mahāmahopādhyāya Haraprasad Śāstrī was the first to liscover and publish the Buddhist Dohās. But he failed to ecognise its language as Apabhraṁśa and as his manuscript (or opy?) of the text was very corrupt he was not able to give a ritical edition of the text. He published two collections of Dohās : one of Saraha and the other of Kṛṣṇācāryapāda. It was eft to Dr. Shahidullah to handle the texts more critically. In an dmirable work, *Les Chants Mystiques de Kānha et de Saraha*, ie has compared the Apabhraṁśa verses with their Tibetan ranslation, settled their meaning and made a detailed study of heir language.

During my last stay in Nepal in 1929 I came upon an old nanuscript of the Dohākoṣa in the collection of the Exalted Rājaguru Hemarāja Śarmā and another fragmentary MS. of Dohākoṣa in the Darbar Library. The former MS. belongs o the 13th century and contains two collections, the Dohākoṣa f Tillopāda and that of Sarahapāda. The former is ntirely new whereas the second is a very correct and more omplete copy of the Dohākoṣa of Saraha already known. The fragmentary MS. of the Darbar Library is dated 221 N. S. (1101 A. D.). It is therefore the oldest MS. of any Dohākoṣa hitherto known and contains fragments of two new Dohākoṣas of Saraha and a portion of the Dohākoṣa of Saraha already known. My edition therefore includes :

(*i*) The Dohākoṣa of Tillopāda. The Tibetan translation of its Apabhraṁśa portion is found in Bstan ḥgyur, Narthang edition, Vol. XLVI, pp. 135*a*-137*a*.

(ii) Two fragments of new Dohākoṣas of Saraha.

(iii) The Dohākoṣa of Saraha—MSS. A.—the text published by Śāstrī ; B.—the MS. in the collection of the Rājaguru ; C.—the MS. in the Darbar Library. The work of Dr. Shahidullah along with his collation of two editions of the Tibetan translations have also been utilised.

(iv) The Dohākoṣa of Kṛṣṇa.

(v) The Dohās of Saraha quoted in various texts printed or in MSS.

(vi) Apabhraṁśa verses quoted in various texts printed or in MSS.

I have been obliged to bring out this work in an incomplete form, for various reasons. But from the portion of my study which it has been possible to bring out it will be seen that I had the intention to make as much detailed study of the text as possible and to bring together all parallel texts available at this stage for elucidating the meaning. A new form of mysticism is contained in these texts and we cannot possibly interpret it without referring to other texts of the same school. The plan of my work is therefore different from that of Dr. Shahidullah and it is my intention to insist on those aspects which he has not treated.

This work was sent to the Press five years ago. My studies in the meantime have helped me not only in improving the text but also in throwing new light on many of the obscure points. These have been included in my complete work which has been undertaken for publication by the *Calcutta Sanskrit Series* and will come out in course of a year.

September, 1935 P. C. BAGCHI

CONTENTS

		PAGE
I.	Apabhraṁśa Texts	
i.	तिल्लोपादस्य दोहाकोषः	1
ii.	सरहपादीय-दोहा	5
iii.	सरहपादीय-दोहा	7
iv.	सरहपादस्य दोहाकोषः	9
v.	काण्हपादस्य दोहाकोषः	24
vi.	सरहपादीय-दोहासंग्रहः	28
vii.	सङ्कीर्ण-दोहासंग्रहः	32
II.	Texts and Commentaries.	
i.	तिल्लोपादस्य दोहाकोषः	41
ii.	सरहपादस्य दोहाकोषः	52
iii.	काण्हपादस्य दोहाकोषः	121
III.	Notes and Translations.	
i.	Dohākośa of Tillopāda	139
ii.	The Dohās of Sarahapāda	176

SOME CORRECTIONS.

PAGE	VERSE	INCORRECT	CORRECT
1	6	अइअ	अद्दअ
3	23	दिट	दिढ़
3	26	धिर म	विरम
3	28	स्वण	खण
3	28	जन्महि	जम्महि
4	33	तँहि	तहिँ
5	4	चक्ख	चक्क
12	24	सिजझइ	सिज्झइ
17	61	भत्ति	भन्ति
20	87	अहिणमइ तिहु	अहिमणइ तिहुअण
22	99	परस महासुह	परम महासुह
22	103	धरहि	घरहि
23	111	खसू	खण्ड
23	111	त्यजहु	च्छडहु
24	5	पओ	पत्त
25	6	जानइ	जाणइ

APABHRAMSA TEXTS

तिल्लोपादस्य दोहाकोषः

कन्ध [भूअ] आअत्तण इन्दी ।
सहज सहावेँ सअल विवन्दी ॥१॥
सहजेँ भावाभाव ण पुच्छह ।
सुण करुण तहि समरस इच्छिअ ॥२॥
मारह चित्तणिव्वाणेँ हणिआ ।
तिहुअण सुण णिरञ्जण पलिआ ॥३॥
अमणसिआर म दूसह मिच्छे ।
अप्पाणुवन्ध म करहु रे इच्छे ॥४॥
चित्त खसम जहि समसुह पइठ्ठइ ।
[इन्दीअ विसअ तहि मत्त]ण दीसइ ॥५॥
आइरहिअ एहु अन्तरहिअ ।
वरगुरुपाअ अ[द्वअ कहिअ] ॥६॥
वु मरइ जहि पवण तहि लीणो होइ णिरास ।
सअ[संवेअण तत्तफलु] स कहिज्जइ कीस ॥७॥
वढ़ अणँ लोअअगोअर तत्त पण्डिअलोअ अगम्म ।
जो गुरुपा[अपसण्ण तँहि कि चित्त अगम्म] ॥८॥

सअसंवेअण तत्तफल तीलपाअ भणन्ति ।
[जो मणगोअर पइट्ठइ सो परमत्थ ण होन्ति] ॥९॥
सहजेँ चित्त विसोहहु चङ्ग ।
इह जम्महि सिद्धि [मोक्ख भङ्ग] ॥१०॥
जहि जाइ चित्त तहि सुणहु अचित्त ।
समरसँ [णिम्मल भावाभावरहिअ] ॥११॥
अहअ चित्ततरुअर गउ तिहुअण वित्थार ।
करुणा फुलिअ फलधर णउ परत उआर ॥१२॥
पर अप्पाण म भन्ति करु सअल णिरन्तर बुद्ध ।
तिहुअण णिम्मल परमपउ चित्त सहावेँ सुद्ध ॥१३॥
सचल णिचल जो सअलाचार ।
सुण णिरञ्जण म करु विआर ॥१४॥
एहुसे अप्पा एहु जगु जो परिभावइ ।
[णिम्मल चित्तसहाव सो कि बुज्झइ] ॥१५॥
हँउ जगु हँउ बुद्ध हँउ णिरञ्जण ।
[हँउ अमणसिआर भवभञ्जण] ॥१६॥
मणह [भअवा] खसम भअवइ ।
[दिवाराति सहजे रहिअइ] ॥१७॥
जम्म मरण मा करहु रे भन्ति ।
[णिअचित्त तहिँ णिरन्तर होन्ति] ॥१८॥
तित्थ तपोवण म करहु सेवा ।
[देहसुचिहि ण सन्ति पावा] ॥१९॥

वम्हा विहणु महेसुर देवा ।
[बोहिसत्त्व म करहु सेवा] ॥२०॥
देव म पूजहु ति[त्थ] ण जावा ।
देवपूजाहि ण मोक्ख पावा ॥२१॥
बुद्ध आराहहु अविकलचित्तेँ ।
[भवणिव्वाणे म करहु रे थित्तेँ ॥] २२॥
पग्गोपाअ समाहि लग्गहु ।
जहि तहि दिठ कर अणुत्तर सिद्धइ ॥२३॥
जिम विस भक्खइ विसहि पलुत्ता ।
[तिम भव भुञ्जइ भवहि ण जुत्ता] ॥२४॥
कम्म मुद्द म दूसह जोइ ।
[खण आणन्द भेउ जाणिज्जइ] ॥२५॥
लेहु रे परम धिर म विआरी ।
णिउणेँ वर गुरु चरण आराही ॥२६॥
[परम आणन्द भेउ जो जाणइ ।
खणहि सोवि सहज बुज्झइ] ॥२७॥
खण आणन्द भेउ जो जाणइ ।
सो इह जम्महि जोइ भणिज्जइ ॥२८॥
गुण दोस रहिअ एहु परमत्थ ।
सअसंवेअण केवि णत्थ ॥२९॥

चित्ताचित्त वि वज्जहु णित्त ।
सहज सरुएँ करहु रे थित्त ॥३०॥
आवइ जाइ कहवि ण णाइ ।
गुरुउवएसेँ हिअहि समाइ ॥३१॥
वण वि वज्जइ आकिइ विहुणा ।
सव्वाआरे सो संपुणा ॥३२॥
ए मण मारहु [लहु चित्ते] णिम्मूल ।
[तँहि महासुह तिहुअणेँ णिम्मल] ॥३३॥
हउ सुण जगु सुण तिहुअण सुण ।
[णिम्मल सहजे ण पाप ण पुण] ॥३४॥
जहि इच्छइ तहि जाउ मण एत्थु ण किज्जइ भन्ति ।
अध उघाड्यि आलोअणें ज्झाणें होइ रे थित्ति ॥

सरहपादीय-दोहा

* * * *

[2a] ण णिच्चलउ भावहु अप्प ण इच्छ ॥१॥
अलिओ धम्म महासुह पइसइ ।
लवणो जिम पाणीहि विलिज्जइ ॥२॥
सरह भणइ जिणगुणगण एत्तवि ।
पत्था एहुसो एहु परमत्थवि ॥३॥
णित्तरङ्ग चक्ख विफल आसेँ ।
पवण वितुट्टइ णिअमण गासेँ ॥४॥
चित्त वि गइ अचित्त उएसहि ।
सद्गुरु वअणेँ फुड़ पड़िहासहि ॥५॥
मन्तह मन्ते सन्ति ण होइ ।
पड़िलभित्ति कि उट्टिअ होइ ॥६॥
तरुफल दरिसणे णउ अग्घाइ ।
वेज्ज देक्खि किँ रोग पलाइ ॥७॥
जाव ण अप्पा जाणिज्जइ ताव ण सिस्स करेइ ।
अन्धँ अन्ध कढ़ाव तिम वेण वि कूव पड़इ ॥८॥
एहु सम्वित्तिअ हिअहि पइसइ ।
भवदालिद्दअ वस्स विणासइ ॥९॥

सरह भणइ अत्तत्थ विसार सअसम्वित्ति ण वुज्झइ दूरं।
मण पसरउ पसरन्न णिवार धूलह वहिकर सुण्ण विआरे ॥१०॥

[2b]अधउधमज्झेँ सअल भूअणासी।
हीसइ तहिगत ओर पइसी ॥११॥

जसु जीवओहमणुसँरइ सव्वेन्दिअहि समाण।
सो जगहितइ मुक्कलओ तेम्मइ लद्ध णिवाण ॥१२॥

जइ पुणु जोइए गुण लद्धो।
सव सुहं भुञ्जइ भवहि ण वद्धो ॥१३॥

भणइ सरह एवि विसमो रन्धा।
अइसेँ जोउ म करहुरे वन्धा ॥१४॥

ण फुरइ णअण अत्यसइ चित्त फुड़ तुट्टइ भन्ति।
आवाअ गइ अत्थ मण जाइ तह धारण धिअन्ति ॥१५॥

अरे वढ़ लोअ म करहु रे भिण्ण।
सअला आरहि गअण सँपुण्ण ॥१६॥

सअ सम्वित्तिहि तुट्टइ णेह।
उइअ चन्द जिम रअणिह सोह ॥१७॥

खितिजलपवण हुआसणेहि इन्दीविसअहि जुत्त।
पञ्चजिणेहि वि वेढ़ किउ सअल गुणाअर चित्त ॥१८॥

जोइणि गाढ़ालिङ्गणहि वज्जिल लहु उवसण्ण।
तत्त पआमिअ तेहि खणे हणे दिवअण ण दिण्ण ॥१९॥

एहु सो भावहु अण्ण कमअओवि अण्ण * * ॥२०॥

सरहपादीय-दोहा

* * * *

[2a]सि फिट्टइ मोह जाल जइ जाणसि ॥१॥

जम्महि उअहि अत्थ गइ लहु विस-इन्दिअ राणा।
अच्छहु किं वहु वित्थरहि तत्त कएहु पमाणा ॥२॥

सङ्कपास तोड़हु गुरुवअणे।
ण सुनइ सोणउ दीसइ णअणेँ ॥३॥

पवण वहन्ते णउ सो हल्लइ।
जलण जलन्ते णउ सो डज्झइ ॥४॥

घण वरिसन्ते णउ सो म्मइ।
णउ वज्जइ णउ खअहि पइस्सइ ॥५॥

णउ वट्टइ ण तणुन्ते ण वच्चइ।
समरस सहजानन्द जाणिज्जइ ॥६॥

सो परमेसर मज्झठिउ उठेम्वि ण कोवि ण दीसइ।
आराहहु गुरु वज्जधर संसार ण पइसइ ॥७॥

जाणिज्जइ तद्गुरुपाअहि हउ हउ हउसो भणेइ।
देह कणधाण ओरहि ताहर सट्ट सुणेइ ॥८॥

णउ तम्वाअहि गुरु कहइ णउ तम्वुज्झइ सीस।
सहजामिअरसु सअल जगु कासु कहिज्जइ कीस ॥९॥

सअ संवि[2^{b}]ठा तत्तफलु सरह पाअ भणन्ति ।
जो मणगोअर पाठिअइ सो परमत्थ ण होन्ति ॥१०॥
अक्खअ अच्चेय परमँ पहु खसम महासुह णाह ।
जो आवाअ अचित्त वि तस्स चक्खु करेइ ॥११॥

जोहि विणठ्ठ पणठ्ठ पउ सो हिअअत्थ हत्थ ।
सरपाअकिअ दोहतिउ सो सङ्गहिओ एत्थ[1] ॥

---

[1] *Colophon* :—समन्तो जहालद्धो दोहाकोसो एसो सङ्गहिओ परत्थकामेण पण्डिअ-सिरि-दिवाअरचन्देणेत्ति । सम्वत् २२१ श्रावणशुक्ल-पूर्णमास्यां । श्रोनोग्वलके परमोपासक श्रीरामवर्म्मणः पुस्तकोयं । यथा दृष्टं तथा शाक्यभिक्षुस्थविर-पथमगुप्तेन लिखितव्यम् ।

सरहपादस्य दोहाकोषः

वम्हणेहि म जाणन्त हि भेउ ।
एवइ पढ़िअउ ए च्चउ वेउ ॥१॥
मट्टी [पाणी कुस लइ पढ़न्त ।
घरहिँ वइसी] अग्गि हुणन्त ॥
कज्जे विरहिअ हुअवह होमेँ ।
अक्खि डहाविअ कडुएँ धूमेँ ॥२॥
एक दण्डि त्रिदण्डी भअवँवेसेँ ।
विणुआ होइअइ हँस उएसेँ ॥
मिच्छेहिँ जग:वाहिअ भुल्लेँ ।
धम्माधम्म ण जाणिअ तुल्लेँ ॥३॥
अइरिएहिँ उद्धूलिअ च्छारेँ ।
सीससु वाहिअ ए जड़भारेँ ॥
घरही वइसी दीवा जाली ।
कोणहिँ वइसी घण्डा चाली ॥४॥
अक्खि णिवेसी आसण वन्धी ।
कणेहिँ खुसुखुसाइ जण धन्धी ॥

रण्डी मुण्डी अण्ण वि वेँसेँ ।
दिक्खिज्जइ दक्खिण उद्देसेँ ॥५॥
दीहणक्ख जइ मलिणेँ वेसेँ ।
णग्गल होइ उपाड़िअ केसेँ ॥
खवणेहि जाण विड़ंबिअ वेसेँ ।
अप्पण वाहिअ मोक्ख उवेसेँ ॥६॥

जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह ।
लोमुपाड़णेँ अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह ॥७॥
पिच्छीगहणे दिट्ठ मोक्ख [ता मोरह चमरह] ।
उञ्छेँ भोअणेँ होइ जाण ता करिह तुरङ्गह ॥८॥
सरह भणइ खवणाण मोक्ख मह्नु किम्पि ण भावइ ।
तत्तरहिअ काआ ण ताव पर केवल साहइ ॥९॥

चेल्लू भिक्खु जे त्थविर उद्देसेँ ।
वन्देहिँ अ पव्वज्जिउ वेसेँ ॥
कोइ सुतणत वक्खाण वइट्ठो ।
कोवि चिणते कर सोसइ दिट्ठो ॥१०॥
अण्ण तहि महजाणहिँ धा[इ]
* * * ॥११॥
* * * ॥१२॥
[सहज छड्डि जो णिव्वाण भाविउ]
णउ परमत्थ एक्क तेँ साहिउ ॥१३॥

जो जसु जेण होइ संतुट्ठो ।
मोक्ख कि लब्भइ ज्झाण पविट्ठो ।
किन्तह दीवेँ किन्तह णिवेज्जँ ।
किन्तह किज्जइ मन्तह सेव्वँ ॥१४॥
किन्तह तित्थ तपोवण जाइ ।
मोक्ख कि लब्भइ पाणी ह्नाइ ॥१५॥
छड्डुहु रे आलीकावन्धा ।
सो मुञ्चहु जो अच्छहु धन्धा ॥
तसु परिआणेँ अण्ण ण कोइ ।
अवरेँ गणेँ सव्ववि सोइ ॥१६॥
सोवि पढ़िज्जइ सोवि गुणिज्जइ ।
सत्थ-पुराणेँ वक्खाणिज्जइ ॥
णाहि सो दिट्ठि जो ताउ ण लक्खइ ।
एक्केँ वर-[गुरुपाअ पेक्खइ] ॥१७॥
जइ गुरु वुत्तउ हिअइ पइसइ
णिच्चिअ हत्थेठ विअ उदीसइ ॥
सरह [भणइ] जग वाहिअ आलेँ ।
णिअसहाव णउ लक्खिउ वालेँ ॥१८॥
झाणहीण पव्वज्जेँ रहिअउ ॥
घरहि वसन्तेँ भज्जे सहिअउ ॥
जइ भिड़ि विसअ रमन्त ण मुच्चइ ।
[सरह भणइ] परिआण कि मुच्चइ ॥१९॥

जइ पच्चक्ख कि झाणेँ कीअअ।
जइ परोक्ख अन्धार म धीअअ॥
सरहेँ [णित्त] कड्ढिउ राव।
सहज सहाव ण भावाभाव॥२०॥
जल्लइ मरइ उवज्जइ वज्झइ।
तल्लइ परम महासुह सिज्झइ॥
[सरहेँ गहण गुहिर भास कहिअ।
पसु-लोअ निव्वोह जिम रहिअ]॥२१॥
झाण रहिअ कि कीअइ झाणेँ।
जो अवाअ तहिँ काहि वखाणेँ॥
भव मुद्देँ सअल हि जग वाहिउ।
णिअ सहांव णउ केणवि साहिउ॥२२॥
मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण।
सव्ववि रे वढ़ विब्भमकारण॥
असमल चित्त म झाणें खरड़ह।
सुह अच्छन्त म अप्पणु झगड़ह॥२३॥
खाअन्ते [पिवन्ते सुह रमन्ते।
णित्त पुणु पुणु चक्क वि भरन्ते॥
अइस धम्मेँ सिजझइ परलोअह।
णाह पाएँ दलि]उ भअ लोअह॥२४॥

जहि मण पवण ण सञ्चरइ रवि ससि णाह पवेस।
तहि वढ़ चित्त विसाम करु सरहेँ कहिअ उएस॥२५॥

एक्कु करु [रे मा करु वेसि जाणे ण करह विस।
एहु तिहुअण सअल महाराएँ एक्कु करु वस]॥२६॥
आइ ण अन्त ण मज्झ णउ णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परममहासुह णउ पर णउ अप्पाण॥२७॥
अग्गेँ पच्छेँ [दहदिहहि जो जो दीसइ तत्त सोइ।
अज्जहि तइसो भन्ति मुक्क एव्वेँ मा पुच्छ कोइ]॥२८॥
इन्दिअ जत्थु विलअ गउ ण ठिउ अप्प-सहावा।
सो हले सहजतणु फुड़ पुच्छहि गुरु पावा॥२९॥
जहि मण मरइ पवणहो क्खअ जाइ * *।
एहु से परम महासुह कहिम्पि ण जाइ॥३०-३१॥

सअ-सम्वित्ति म करहुरे धन्धा।
भावाभाव सुगति रे [वढ़] वन्धा॥
णिअ मण मुणहुरे णिउणेँ जोइ।
जिम जल जलहि मिलन्ते सोइ॥३२॥
झाणेँ मोक्ख कि चाहुरे आलेँ।
माआजाल कि लेहुरे कोलेँ॥
वरगुरु-वअणेँ पड़िज्जहु सच्चेँ।
सरह भणइ मइ कहिअउ वाँचे॥३३॥
पढ़मेँ जइ आआस विसुद्धो।
चाहन्ते चाहन्ते दिट्ठि णिरुद्धो॥
एसेँ जइ आआस विकालो।
णिअमण दोँसे ण वुज्झइ वालो॥३४॥

अहिमाण दोसेँ ण लक्खिउ तत्त ।
तेण दूसइ सअल जाणु सो देत्त ॥
झाणेँ मोहिअ सअल वि लोअ ।
णिअ सहाव णउ लक्खइ कोअ ॥२५॥

चित्तह मूल ण लक्खिअउ सहजेँ तिण्ण वि तत्थ ।
तहिँ जीवइ विलअ जाइ वसिअउ तहि फुड़ एत्थ ॥२६॥

मूलरहिअ जो चिन्तइ तत्त ।
गुरु-उवएसेँ एत्त विअत्त ॥
सरह भणइ वढ़ जाणहु चंगे ।
चित्तरुअ संसारह भङ्गे ॥२७॥

णिअ-सहाव णउ कहिअउ अणेँ ।
दीसइ गुरु-उवएसेँ ण अणेँ ॥
णउ तसु दोसजे एक्कवि ठ्ठाइ ।
धम्माधम्म सो सोहिअ खाइ ॥२८॥

णिअमण सव्वेँ सोहिअ जव्वेँ ।
गुरुगुण हिअए पइसइ तव्वेँ ॥
एवँ मणे मुणि सरहेँ गाहिउ ।
तन्त मन्त णउ एक्कवि चाहिउ ॥२९॥

वज्झइ कम्मेण जणो कम्म-विमुक्केण होइ मणमोक्खँ ।
मणमोक्खेण अणूणं पाविज्जइ परमणिव्वाणँ ॥४०॥

चित्तेक्क सअलवीअं भवणिव्वाणो वि जस्स विप्फुरन्ति ।
तं चिन्तामणिरुअं पणमह इच्छाफलं देन्ति ॥४१॥

चित्तेँ वज्झेँ वज्झइ मुक्केँ मुक्केइ णत्थि सन्देहा ।
वज्झन्ति जेण वि जड़ा लहु परिमुच्चन्ति तेण वि वुहा ॥४२॥

वद्धो धावइ दहदिहहिँ मुक्को णिच्चल ठाइ ।
एमइ करहा पेक्खु सहि विहरिअ मह्‌‌ु पड़िहाइ ॥४३॥

पवणरहिअ अप्पाण म चिन्तह ।
कठ्ठ जोइ णासग्ग म वंदह ॥
अरे वढ़ सहजे सइ पररज्जह ।
मा भवगन्धवन्ध पड़िचज्जह ॥४४॥

एहु मण मेल्लह पवण तुरङ्ग सुचञ्चल ।
सहज सहावे सो वसइ होइ णिच्चल ॥४५॥

जव्वेँ मण अत्थमण जाइ तणु तुट्टइ वन्धण ।
तव्वेँ समरस सहजे वज्जइ णउ सुद्द ण वम्हण ॥४६॥

एत्थु से सुरसरि जमुणा एत्थु से गङ्गासाअरु ।
एत्थु पआग वणारसि एत्थु से चन्द दिवाअरु ॥४७॥

क्खेत्तु पीठ उपपीठ एत्थु मइँ भमइ परिठ्ठओ ।
देहा-सरिसअ तित्थ मइँ सुह अण्ण ण दीठ्ठओ ॥४८॥

सण्ड-पुअणि-दल-कमल-गन्ध-केसर-वरणालेँ ।
छड्डहु वेणिम ण करहु सोसं ण लग्गहु वढ़ आलेँ ॥४९॥

काम तत्थ खअ जाइ पुच्छह कुलहीणओ ।
वम्ह विठ्ठु तेलोअ सअल जहि णिलीणओ ॥५०॥

अरे पुत्तो वोज्झु रसरसण सुसण्ठिअ अवेज्ज ।
वक्खाण पढ़न्तेहि जगहि ण जाणिउ सोज्झ ॥५१॥

अरे पुत्तो तत्तो विचित्त रस कहण ण सक्कइ वत्थु ।
कप्परहिअ सुह-ठाणु वरजगु उअज्जइ तत्थु ॥५२॥
बुद्धि विणासइ मण मरइ जहि [तुट्टइ] अहिमाण ।
सो माआमअ परम-कलु तहिँ किम्वज्झइ भाण ॥५३॥

भवहि उअज्जइ खअहि णिवज्जइ ।
भाव-रहिअ पुणु कहि उवज्जइ ॥
विण्ण विवज्जिअ जोउ वज्जइ ।
अच्छह सिरिगुरुणाह कहिज्जइ ॥५४॥
देक्खहु सुणहु परीसहु खाहु ।
जिग्घहु भमहु वइठ्ठ उठ्ठाहु ॥
आलमाल व्यवहारेँ पेल्लह ।
मण च्छडु एक्काकार म चल्लह ॥५५॥

गुरु उवएसेँ अमिअ-रसु धावहि ण पीअउ जेहि ।
बहु सत्थत्थ मरुत्थलिहिँ तिसिए मरिअउ तेहि ॥५६॥
चित्ताचित्त विपरिहरहु तिम अच्छहु जिम वालु ।
गुरुवअणेँ दिढ़भत्ति करु होइ जइ सहज उलालु ॥५७॥

अक्खरवण्णो परमगुण रहिजे ।
भणइ ण जाणइ एमइ कहिअजे ॥
सो परमेसरु कासु कहिज्जइ ।
सुरअ कुमारी जिम पड़िज्जइ ॥५८॥

भावाभावे जो परहीणो ।
तहिँ जग सअलासेस विलीणो ॥
जव्वेँ तहिँ मण णिच्चल थक्कइ ।
तव्वेँ भवसंसारह मुक्कइ ॥५९॥
जाव ण अप्पहिँ पर परिआणसि ।
ताव कि देहाणुत्तर पावसि ॥
एमइ कहिजे भन्ति ण कव्वा ।
अप्पहि अप्पा वुज्झसि तव्वा ॥६०॥
णउ अणु णउ परमाणु वि चिन्तजे ।
अणवर भावहि फुरइ सुरत्तजे ॥
भणइ सरह भन्ति एत विमत्तजे ।
अरे णिक्कोली वुज्झह परमत्थजे ॥६१॥
घरेँ अच्छइ वाहिरे पुच्छइ ।
पइ देक्खइ पड़िवेसी पुच्छइ ॥
सरह भणइ वढ़ जाणउ अप्पा ।
णउ सो धेअ ण धारण जप्पा ॥६२॥
जइ गुरु कहइ कि सव्व वि जाणी ।
मोक्ख कि लब्भइ सअल विणु जाणी ॥
देस भमइ हव्वासेँ लइजे ।
सहज ण वुज्झइ पापेँ गहिजे ॥६३॥
विसअ रमन्त ण विसअँ विलिप्पइ ।
ऊअर हरइ ण पाणी छिप्पइ ॥

एमइ जोइ मूल सरन्तो ।
विसहि ण वाहइ विसअ रमन्तो ॥ ६४॥

देव पिच्छइ लक्ख वि दीसइ ।
अप्पणु मारीइ स कि करिअइ ॥

तोवि ण तुट्टइ एहु संसार ।
विणु आआसें णाहि णिसार ॥६५॥

अणिमिसलोअण चित्त णिरोहें ।
पवण णिरुहइ सिरिगुरुवोहें ॥

पवण वहइ सो णिच्चलु जव्वें ।
जोइ कालु करइ कि रे तव्वें ॥६६॥

जाउ ण इन्दीअविसअ-गाम ।
तावइ वि फुरइ अकाम ॥

अइसें विसम सन्धि को पइसइ ।
जो जहिँ अत्थि णउ जाव ण दीसइ ॥६७॥

पण्डिअ सअल सत्थ वक्खाणइ ।
देहहिँ वुद्ध वसन्त ण जाणइ ॥

अवणागमण ण तेण विखण्डिअ ।
तोवि णिलज्ज भणइ हउ पण्डिअ ॥६८॥

जीवन्तह जो णउ जरइ सो अजरामर होइ ।
गुरु-उवएसें विमलमइ सो पर धण्णो कोइ ॥६९॥

विसअ-विसुद्धें णउ रमइ केवल सुण्ण चरेइ ।
उड्डी वोहिअ काउ जिम पलुट्टिअ तह वि पड़ेइ ॥७०॥

विसआसत्ति म वन्ध करु अरे वढ़ सरहें वुत्त ।
मीण पअङ्गम करि भमर पेक्खह हरिणह जुत्त ॥७१॥

जत्त वि चित्तहि विप्फुरइ तत्त वि णाह सरूअ ।
अण्ण तरङ्ग कि अण्ण जलु भवसम खसम सरूअ ॥७२॥

कासु कहिज्जइ को सुणइ एत्थु कज्जसु लीण ।
दुट्ठ सुरुङ्गाधूलि जिम हिअ-जाअ हिअहि लीण ॥७३॥

जत्तवि पइसइ जलहि जलु तत्तइ समरस होइ ।
दोस गुणाअर चित्तता वढ़ परिवक्ख ण कोइ ॥७४॥

सुण्णहिँ सङ्ग म करहि तुहु जहिँ तहिँ सम चिन्तस्स ।
तिल-तुस-मत्त वि सल्लता वेअणु करइ अवस्स ॥७५॥

अइसें सोपर होइ ण अइसों ।
जिम चिन्तामणि कज्ज सरीसों ॥

अक्कट पण्डिअ भन्तिअ णासिअ ।
सअ सम्वित्ति महासुह वासिअ ॥७६॥

सव्व रुअ॰तहिँ खसम करिज्जइ ।
खसम-सहावें मण वि धरिज्जइ ॥

सो वि मणु तहि अमणु करिज्जइ ।
सहज-सहावें सो परु रज्जइ ॥७७॥

घरें घरें कहिअइ सोज्भुक कहाणा ।
णउ परि सुणिअइ महासुह ठाणा ॥

सरह भणइ जगचित्तें वाहिअ ।
सो अचित्त णउ केणवि गाहिअ ॥७८॥

एक्कु देव वहु आगम दीसइ ।
अप्पणु इच्छेँ फुड़ पड़िहासइ ॥७६॥
अप्पणु णाहो अण्ण वि रुद्धो ।
घरेँ घरेँ सोअ सिद्धन्त पसिद्धो ॥
एक्कु खाइ अवर अण्ण वि पोड़इ ।
वाहिरेँ गइ भत्तारह लोड़इ ॥८०॥

आवन्त ण दीसइ जन्त णहि अच्छन्त ण मुणिअइ ।
णित्तरङ्ग परमेसुरु णिक्कलङ्क धाहिज्जइ ॥८१॥

आवइ जाइ ण च्छड्डइ तावहु ।
कहिँ अपुव्व-विलासिणि पावहु ॥८२॥
सोहइ चित्त णिरालं दिण्णा ।
अउण-रुअ म देखह भिण्णा ॥
काअ-वाअ-मणु जाव ण भिज्जइ ।
सहज-सहावेँ ताव ण रज्जइ ॥८३॥

घरवइ खज्जइ घरिणि-एहि जहिँ देसहि अविआर ।
माइए पर तहिँ कि उवरइ विसरिअ जोइणिचार ॥८४॥
घरवइ खज्जइ सहजेँ रज्जइ किज्जइ राअ विराअ ।
णिअ पास वइट्ठी चित्ते भट्ठी जोइणि मह्नु पड़िहाअ ॥८५॥
खज्जइ पिज्जइ ण विचिन्तेज्जइ चित्ते पड़िहाअ ।
मणुवाहिरेँ दुल्लक्खहरे विसरिस जोइणि-माअ ॥८६॥
इअ दिवस णिसहि अहिणमइ तिहु जासु णिमाण ।
सो चित्तसिद्धि जोइणि सहजसम्वरु जाण ॥८७॥

अक्खर वाढ़ा सअल जगु णाहि णिरक्खर कोइ ।
ताव से अक्खर घोलिआ जाव णिरक्खर होइ ॥८८॥

जिम वाहिर तिम अब्भन्तरु ।
चउदह भुवणेँ ठिअउ णिरन्तरु ॥
असरिर [कोइ] सरीरहि लुक्को ।
जो तहि जाणइ:सो तहि मुक्को ॥८९॥
सिद्धिरत्थु मइ पढ़मे पढ़िअउ ।
मण्ड पिवन्तेँ विसरअ एमइ उ ॥
अक्खरमेक्क एत्थ मइ जाणिउ ।
ताहर णाम ण जाणमि ए सइउ ॥९०॥
रुअणेँ सअल वि जोहि णउ गाहइ ।
कुन्दुरु-खणहि महासुहे साहइ ॥
जिम तिसिओ मिअ तिसिणेँ धावइ ।
मरइ सो सोसहिँ णभजलु कहिँ पावइ ॥९१॥

कन्ध-भूअ-आअत्तण-इन्दीविसअ-विआरु अप हुअ ।
णउ णउ दोहाच्छद्दे ण कहवि किम्पि गोप्प ॥९२॥

पण्डिअ लोअहु खमहु मह्नु एत्थु ण किअइ विअप्पु ।
जो गुरुवअणेँ मइ सुअउ तहि किं कहमि सुगोप्पु ॥९३॥
कमलकुलिस वेवि मज्झठिउ जो सो सुरअ-विलास ।
को त रमइ णह तिहुअणे हि कस्स ण पूरइ आस ॥९४॥
खण उवाअ सुह अहवा अहवा वेणि वि सोवि ।
गुरुपाअ-पसाएँ पुण जइ विरला जाणइ कोवि ॥९५॥

गम्भीरइ उआहरणेँ णउ पर णउ अप्पाण ।
सहजाणन्दे चउट्ठ क्खण णिअ सम्वेअण जाण ॥९६॥
घोरन्धारेँ चन्दमणि जिम उज्जोअ करेइ ।
परममहासुह एक्कुखणे दुरिआसेस हरेइ ॥९७॥
दुक्ख-दिवाअर अत्थगउ ऊवइ तरावइ सुक्क ।
ठिअ-णिम्माणेँ णिम्मिअउ तेणवि मण्डल-चक्क॥९८॥
चित्तहिँ चित्त णिहालु वढ़ सअल विमुच्च कुदिट्ठि ।
परसमहासुहे सोज्झ परु तसु आअत्ता सिद्धि ॥९९॥
मुक्कउ चित्तगएन्द करु एत्थ विअप्प ण पुच्छ ।
गअण गिरी णइ जल पिअउ तहिँ तड़ वसउ सइच्छ ॥१००॥
विसअ-गएन्देँ-करेँ गहिअ जिम मारइ पड़िहाइ ।
जोइ कवड़िआर जिम तिम तहो णिस्सरि जाइ ॥१०१॥
जो भव सो णिव्वाण खलु स उण मण्णहु अण्ण ।
एक्क सहावेँ विरहिअ णिम्मल मइँ पड़िवण्ण ॥१०२॥
धरहि म थक्कु म जाहि वणे जहि तहि मण परिआण ।
सअलु णिरन्तर वोहि-ठिअ कहिँ भव कहिँ णिव्वाण ॥१०३॥
णउ घरे णउ वणेँ वोहि ठिउ एहु परिआणहु भेउ ।
णिम्मल-चित्त-सहावता करहु अविकल सेउ ॥१०४॥
एहु सो अप्पा एहु परु जो परिभावइ कोवि ।
तेँ विणु वन्धे वेट्ठि किउ अप्प विमुक्कउ तोवि ॥१०५॥
पर अप्पाण म भन्ति करु सअल णिरन्तर वुद्ध ।
एहु से णिम्मल परमपउ चित्त-सहावेँ सुद्ध ॥१०६॥

अहृअ चित्त-तरुअरह गउ तिहुवणेँ वित्थार ।
करुणा फुल्लीफल धरइ णाउ परत्त ऊआर ॥१०७॥
सुण्ण तरुवर फुल्लिअउ करुणा विविह विचित्त ।
अण्णा भोअ परत्तफलु एहु सोक्ख परु चित्त ॥१०८॥
सुण्ण तरुवर णिक्करुण जहि पुणु मूल ण साह ।
तहि आल मूल जो करइ तसु पड़िभज्जाइ वाह ॥१०९॥
एक्केम्वी एक्केवि तरु तेँ कारणे फल·एक्क ।
ए अभिण्णा जो मुणइ सो भवणिव्वाण विमुक्क ॥११०॥
जो अत्थी अण ठीअऊ सो जइ जाइ णिरास ।
खसु सरावेँ भिक्ख वरु त्यजहु ए गिहवास ॥१११॥
पर ऊआर ण किअऊ अत्थि ण दीअउ दाण ।
एहु संसारे कवण फलु वरु छड्डहु अप्पाण ॥११२॥

काण्हपादस्य दोहाकोषः

लोअह गव्व समुव्वहइ हउँ परमत्थे पवीण ।
कोड़िह मज्झेँ एक्कु जइ होइ णिरञ्जण-लीण ॥१॥
आगम-वेअ-पुराणेँ पण्डिअ माण वहन्ति ।
पक्क सिरिफलेँ अलिअ जिम वाहेरिअ भमन्ति ॥२॥
वोहिचिअ रअभूसिअ अक्कोहेहिँ सिट्ठओ ।
पोक्खरविअ सहाव सुह णिअ-देहहि दिट्ठओ ॥३॥
गअण णीर अमिआह पाँक मूल वज्ज भाविअइ ।
अवधूइ किअ मूलणाल हंकारो वि जाअइ ॥४॥
ललणा रसणा रवि ससि तुड़िअ वेण वि पासे ।
पओ-चउट्ठ चउमूणाल ठिअ महासुह वासे ॥५॥
एवं-कार विअ लइअ कुसुमिअ-अरविन्दए ।
महुअर-रूएँ सुरअ-वीर जींघइ मअरन्दए ॥६॥
पञ्च महाभूअ विअ लइ सामग्गिए जइअ ।
पूहवि अव तेअ गंधवह गअण सञ्जइअ ॥७॥
गअण-समीरण-सुहवासे पञ्चेहिँ परिपुण्णए ।
सअल सुरासुर एहु उअत्ति वढ़िए एहु सो सुण्णए ॥८॥
खिति जल जलण पवण गअण वि माणह ।
मण्डल-चक्क विसअवुद्धि लइ परिमाणह ॥९॥

णित्तरङ्ग सम सहज-रूअ सअल-कलुस-विरहिए ।
पाप-पुण्ण-रहिए कुच्छ णाहि काण्हु फुड़ कहिए ॥१०॥
वहिणिक्कलिआ कलिआ सुण्णासुण्ण पइट्ठ ।
सुण्णासुण्ण वेणि मज्झेँ रे वढ़ किम्पि ण दिट्ठ ॥११॥
सहज एक्कु पर अत्थि तहि फुड़ काण्हु परिजाणइ ।
सत्थागम वहु पढ़इ सुणइ वढ़ किम्पि ण जाणइ ॥१२॥

अह ण गमइ ऊह ण जाइ ।
वेणि-रहिअ तसु णिच्चल ठाइ ॥
भणइ काण्ह मण कहवि ण फुट्टइ ।
णिच्चल पवण घरिणि घरे वट्टइ ॥१३॥

वरगिरि-कन्दर गुहिर जगु तहि सअल वि तुट्टइ ।
विमल सलिल सोस जाइ जइ कालग्गि पइट्ठइ ॥१४॥
एहु सो उद्धमेरु धरणिधर सम विसम उत्तार ण पावइ ।
भणइ काण्ह दुल्लक्ख दुरववाह को मणे परिभावइ ॥१५॥
जो संवेअइ मण रअण अहरह सहज फरन्त ।
सो परु जानइ धम्म-गइ अण कि मुणइ कहन्त ॥१६॥
पहं वहन्ते णिअ-मण वन्धण किअउ जेण ।
तिहुअण सअल विफारिआ पुणु संहारिअ तेण ॥१७॥
काहिँ तथागत लभए देवी कोह-गणहि ।
मण्डल-चक्क-विमुक्क अच्छउँ सहज-खणेहि ॥१८॥
सहजे णिच्चल जेण किअ समरसेँ णिअमण-राअ ।
सिद्धो सो पुण तक्खणे णउ जरामरणह भाअ ॥१९॥

णिच्चल णिव्विअप्प णिव्विआर।
उअअ-अत्थमण-रहिअ सुसार॥
अइसो सो णिव्वाण भणिज्जइ।
जहिँ मण माणस किम्पि ण किज्जइ॥२०॥

एवंकार जे बुज्झिअ ते बुज्झिअ सअल असेस।
धम्म-करण्डहो सोहु रे णिअ-पहुधर-वेस॥२१॥

जइ पवण-गमण-दुआरे दिढ़ ताला वि दिज्जइ।
जइ तसु घोरान्धारेँ मण दिवहो किज्जइ॥
जिण-रअण उअरेँ जइ सो वरु अम्बरु छुप्पइ।
भणइ काण्ह भव भुञ्जन्ते णिव्वाणो वि सिज्झइ॥२२॥

जो णत्थु णिच्चल किअउ मण सो धम्मक्खर पास।
पवणहो वज्झइ तक्खणे विसआ होन्ति णिरास॥२३॥

परम विरम जहिँ वेणि उएक्खइ।
तहिँ धम्मक्खर मज्झें लक्खइ॥
अइस उएसे जइ फुड़ सिज्झइ।
पवण घरिणि तहि णिच्चल वज्झइ॥२४॥

वर-गिरि-सिहर उतुङ्ग मुणि सवरेँ जहिँ किअ वास।
णउ सो लंघिअ पञ्चाणणेहि करिवर दुरिअ आस॥२५॥

एहु सो गिरिवर कहिअ मइँ एहु मो महासुह-ठाव।
एक्कु रअणि सहज खण लब्भइ महासुह जाव॥२६॥

सव जगु काअ-वाअ मण मिलि विष्फुरइ तहिसो दुरे।
सो एहु भङ्गे महासुह णिव्वाण एक्कु रे॥२७॥

एक्कु ण किज्जइ मन्त ण तन्त।
णिअ घरिणि लइ केलि करन्त॥
णिअ घरे घरिणि जाव ण मज्जइ।
ताव कि पञ्चवण्ण विहरिज्जइ॥२८॥

एसो जप-होमे मण्डल-कम्मे।
अणुदिण अच्छसि काहिउ धम्मे॥
तो विणु तरुणि णिरन्तर णेहेँ।
बोहि कि लब्भइ एण वि देहेँ॥२९॥

जेँ बुज्झिअ विरल सहजखण काहिँ वेअ-पुराण।
तेँ तुड़िअ विसअ-विअप्प जगु रे असेस परिमाण॥३०॥

जेँ किअ णिच्चल मण-रअण णिअ घरिणि लइ एत्थ।
सोइ वाजिर णाहु रे मयिँ वुत्तो परमत्थ॥३१॥

जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणि लइ चित्त।
समरस जाइ तक्खणे जइ पुणु ते सम णित्त॥३२॥

सरहपादीय-दोहासंग्रहः

I

णउ तम्वाअहि गुरु कहइ णउ तम्वुज्झइ सीस ।
सहजावत्थो अमिअ रस कासु कहिज्जइ कीस ॥

II

को पत्तिज्जइ कासु कहमि अज्ज कड़ाइअ आउ ।
पियदंसणो हले ण टलेसि संसार फुड़ जाउ ॥

III

जं दिट चिअ विलोअ टाउ पवने समरस होही ।
इन्दि पअ अउआ सन्धिअ अन्ने कि समे संवोहि ॥

I. The *dohā* is quoted in the *Kriyāsamuccaya* (fol 155[b]) as a citation from Sarahapāda (*Sarahapādairapi-uktam*) in a very corrupt form: नतुवाए गुरु कहइ नन्तं वुझाइ शोष । सहजावथो अमिअ रस कामु कहिचउ कोश: ॥ It occurs in our fragment No. II Saraha, verse 7, where the beginning of the second line is a little different: सहजामिअ रसु सअल जगु कासु··· (*ante* p. 7). It is partly quoted in the commentary on the *Caryās* (*Śāstrī*, p. 62) "नतं वाए गुरु कहइ". It is also attributed to Saraha where. See also the notes.

II. It is quoted in the commentary of the *Caryās* (*Śāstrī*, p. 35) from Saraha (*tathā ca Sarahapādāḥ*). The text is corrupt—को पत्तिज्जइ कसु कहमि अज्ज कत्ताइ अ आउ । पियदंशणे हले ण टूलेसि संसासषुड़ जाउ ।

III. It is quoted in the commentary of the *Caryās* (*Śāstrī*, p. 68) from Sarahapāda (*tathā ca Sarahapādāḥ*) :

IV

करुणा छड्डि जो सुणहिँ लग्गु ।
णउ सो पावइ उत्तिम मग्गु ॥
अहवा करुणा केवल भावइ ।
जम्म-सहस्सहि मोक्ख ण पावइ ॥

V

सुण करुणा जइ जोएणु सक्कइ ।
णउ भवे णउ णिव्वाणेँ थक्कइ ॥

VI

पुव्व पेम्म सुमरन्ति ।
पुत्ति मिलिअ जइ पुण हन्ति ॥

IV. This verse and the following, attributed to Saraha, occur along with a few other in the *Subhāṣita-saṁgraha*. Bendall has studied these verses with due reference to their Tibetan translation (*Museon*, 1905). I have here collected those verses only which do not occur elsewhere. For IV and V see Bendall, pp. 32 and 75; Bendall's corrections करुणं, जु, मोक्खु for करुणा, जो, मोक्ख of the text are unnecessary. He restores the first word in line 2 as नाइसो which should be णउ सो.

V. Bendall's correction of णिव्वाणे of the text into णिव्वाणहि is unnecessary. These two verses, IV and V, occur in the Tibetan translation of the Dohākoṣa of Saraha. See the notes.

VI. Bendall, pp. 36 and 77.

VII

चन्द सुज्ज घसि घोलिअ घोट्टइ ।
पाव पुण्ण तवेँ ता खणे तुट्टइ ॥
अइसो करण करह विवरीर ।
तेँ अजरामर होइ सरीर ॥

VIII

जेँ किअ णिच्चल मण-रअण पवण घरिणि लइ एत्थे ।
सोसो घालिअ णाज्झरे वुत्तो मइ परमत्थे ॥

IX

कुलिस-सरोरुह जोएँ जोइउ ।
णिम्मल-परममहासुह वोहिउ ॥
खणेँ आणन्द-भेउ तहिँ जाणह ।
लक्ख-लक्खण-हीण परिआणह ॥

X

आइरिउ सअल परिहरइ गच्छन्तो णउ वन्धइ भार ।
अइसो जोइ-अङ्ग पड़िहासइ तइसो लंघइ पार ॥

VII. Bendall, pp. 36 and 79. Text, खणोचट्टइ which Bendall corrects as खणे ते अट्टइ.

VIII. Bendall, pp. 36 and 80 ; text, निचल, सो सो घा जिअ ।

IX. *Ibid*, pp. 36 and 80, text, निम्मल, भेअ which Bendall retains.

X. *Ibid*, pp. 36, 81. Text, सअण and संग for सअल and अङ्ग which Bendall retains.

XI

पवण धरइ मण एक्कु ण चल्लइ ।
कालागिणि सो·हेलेँ पेल्लइ ।
सरह भणइ विवरीर पअट्टह ।
चन्द[सुज्ज वे]णि घोलिअ घोट्टह ॥

XII

+आअक रुक्कु मारअ करहु वारु तिट्ठा रुहोहु ।
लइअ पुरावउ परिणामहु जेँ अजरामर होहु ॥

XIII

जइ विसअहि ण णुल्लन्ति अइ तमु वुद्ध तुमु केवँ ।
सेउ-रहिअ णाउ अङ्कुरहि तरुसम्पत्ति ण जेवँ ॥*

XI. *Ibid*, pp. 36, 84, text, चसइ, पेसइ, शो for सो, नि for णि,

XII. *Ibid*, pp. 36 and 81, text लइचिअ, which I have corrected as लइअ ।

XIII. *Ibid*, pp. 56 and 85 ; In the text it is said to be a quotation from the *Prabandha* of Sarahapāda. Text, विसअंहि ।

* Besides these verses a number of other *dohās* attributed to Saraha are partially quoted in different places of the commentary on the *Caryā*, edited by Śāstrī.

(Page 43) चित्ते शशहर—
(,, 48) चिन्ताचिन्त परिहर—
(,, 50) अहो गट—
(,, 55) अङ्गे पच्छँ—
(,, 71) महामाया देवि—
(,, 72) घर अच्छन्ते मा जाङ्ग वण—
(,, 72) मनमर—
(,, 74) जथे तथे च—
(,, 75) यामइ—

सङ्कीर्ण-दोहासंग्रहः

I

†गुहो सिहो चन्द्रो सुजो एक येसां सापुड़ ।
रुटेल्ल काल कि करइ सो वापुड़ ॥

II

†तं कुरु कुल्लाहूप करिये ह्युग ।
अहणिसि वीअ हन्ते देह्युग ॥
गुरुवअणे दिढ़ करि माणहु ।
भणाअ सवर-पा विसड़ा करे हाणहु ॥

III

†हले सहि विअसिअ कमलु पवोहिउ वज्जेँ ।
अलललललहो महासुहेण आरोहिउ णच्चेँ ॥
रविकिरणेँ पफुल्लिउ कमलु महासुहेण ।
अलललललहो महासुहेण आरोहिउ णच्चेँ ॥

I. *Sādhanamāla*, edited by B. Bhattacharyya II, p. 371, Sādhana No. 180 of Sukla Kurukullā. *Var. lect.* मिहो for सिहो, एकडांसां for एक येसां, पुटेल्ल for रुटेल्ल, कालि for काल ।

II. *Ibid* II, p. 387, Sādhana No. 185 of the goddess Śukla Kunkullā. The author of the Sādhana is Siddha Śabarapāda.

III. *Ibid*, II, p. 460 and 466 ; *Sādhanas* 239 and 240 of Mahāmāya. The second Sādhana is attributed to the authorship of Kurukuripāda. In both the Sādhanas the verses are called *Vajragīti* and are to be sung. *Var. lect.* p. पड़ोहिउ for पवोहिउ ;

IV

किच्चे णिच्चउ विसाअगउ लोअ णिमन्तिअ काइँ ।
तह वत्ता ण जइ सम्भरसि उट्ठहिँ सअल विसाइँ ॥
कज्ज अप्पाण वि करिअ पिअ मा करसु विस्रवि चित्त ॥
भवभअ पड़िआ सअल जणु उट्ठहि जोइ निमित्त ॥
पूर्व्वपइज्जइ सम्भरसि मा कर कज्ज विसाउ ।
तइ अथमिसे सअल जणु परिअवज्ज गउसाउ ॥
मिच्छेँ माण वि मा करहि पिअ उट्ठइ सुखसहाव ।
कामहि जोइणि विन्द तुहु किट्टउ अहवा भाव ॥

V

खिति जल पवण हुतासन [सुख] डाइणि देवि ।
सुणहु पञ्चमि तत्तु कहु जो ण जाणइ कोवि ॥

on p. 466 where the same verse occurs we have नृत्येँ for णच्चेँ in both the lines, 2 and 4 ; and पफुल्लिअ for पफुल्लिउ । On *Vajragīti* see the notes. On p. 481, in Sādhana No. 248 of Heruka according to the *Mahāmāyā-Tantra* we have the first three lines of the same verse with the reading नृत्येँ for णच्चेँ ।

IV. *Ibid* II, p. 501, No. 254 *Buddha-kapālasya-sādhanaṁ.* This is a song to be sung in the secret *sādhana* of the four Yoginis (चतुर्योगिन्योऽभ्यन्तरसाधने). *Var. lect.* तहवणज्जइ for तहवत्ता । विवाअ for विसाइँ ; साकर सुख for मा करसु ; विसाड़े for विसाउ ; अथ मिन्ते for अथमिने, अच्छहि for पिअ, ओइणि for जोइणि, तुइँ for तुहु ।

V. *Hevajra-Tantra*, Ch. IV (XIV) ; the text has been established from three Mss.—(i) in my possession—P ; (ii) in

VI

घुमइ गरल भक्खणेहि जो णिव्वेअणलोअ ।
मोह विवज्जिअ तन्त मन्त तसु-पर तुट्टइ सोअ ॥

VII

उट्ठ भराड़ो करुणमन्त पुक्खसि मह्नु परिताहिँ ।
महासुह-जोए काममह्नु छड्ड तहि सुण्ण-समाहि ॥
तोम्हा-विहुणे मरमि हउँ उट्ठेहि तुहुँ हेवज्ज ।
छड्डु हि सुण्णसहावता सवरि सिज्झउ कज्ज ॥

Prof. Tucci's possession—T ; (iii) in the Nepal Darbar Library, —D.—*Var. lect.* D. च्चिति ; P. पवन ; D. हुतासन, T. हुतासान, P. हुताग्न ; The word after हुतासन is left out P. and wrongly copied as हणवद्दे (D) and हतुम्भ (T) ; The Chinese translation requires सुस (see notes). T. भाइणि, P. भाइणि ; D. पवच्च, P. पवच्चामि, P. पवेच्चमि, D. तत्त, P. T. मह्नु, T. स जाम्बइ, D. अनञ्जानइ, P. न जाणइ।

VI. *Hevajra-Tantra, loc. cit.* ; the verse is partly quoted in the commentary of the *Caryācarya-viniścaya* (H. P. Sāstri) p. 56—घुमइ गरणाह भच्चणे ; *var. lect.* P. घस्मइ गरलह भच्चणं हि ये निच्च अनलाय। मोह विवर्ज्जिअ तथैं मन्ततसु पर तुटाइ सोज ॥ D. घ्रमइ गल उत्तुखणहि जोन्तिच्छेअनलोअ। मोहविवर्ज्जिअ नत्तो मणुतसुपरे नुट्टइ साआ ॥ T. घस्मइ गरलह भच्चो णहि जो णिच्चे अणलोअ। मोह वैवर्ज्जिता ततु-मणुल तत्वपर तुट्टअ सोअ ॥ *Cf.* also the *Buddhakapāla-Tantra-ṭīkā* by Abhyākara Gupta, Ms. in the *Asiatic Society of Bengal*, (No. 3827), fol. 24[b] घुम्नोय गरल भक्खणेँ जो णिव्वेअण लोअ। मोह विवजिअ तसुपर तुदइ सोअ ॥

VII. *Hevajra Tantra*, loc. cit. *Var. lect.*—P. उठ, D. उणठ, P. भलाड़ो, करुणमन्द, T. करुणमनु, P. इमइ, D. परिनाउ, D. महसुअ,

लोअ णिमन्तिअ सुर अपह्नु सुण्ण अच्छसि कीस ।
हउँ चण्डालि विण्ण नमि तइ विणु उहमि न दीस ॥
इन्दीआलो उट्ठ तुहुँ हउँ जाणमि तुहुँ चित्त ।
अम्हे डोम्बी च्छेअमन्त मा कर करुण विच्छित्त ॥

VIII

आइ ण अन्त ण मज्झु ण णउ भव णउ णिव्वाण ।
एहसो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण ॥

P. जायं, P. काम मह्न, T. °मह्नुँ, इच्छ तहि सन्न अहाव, T. च्छभुँहिँ सुस समाहि, P. च्छतहि सुस समाहि, D. तोज विहुण मरमिह वउणठहि तु जुइ हेवज्ञ, T. तोह्मा विहुसे मरमिह हुँ उट्टेहिँ तुहुँ हेवज्जं, P. तोसु विहुणं मरहिमि उठहि तु हवज, D. छादहि सुन्न सहावता अवरी सिभड कज, T. च्छड्डाहि सुससहावता अवरिअ सिद्धा उकज्जं, P. च्छलहि सुणं सहावक्षा सवरिसिम उल्कवजं, D. लोअनिमत्ति सुर अपहु सुसं अहसिकिसु, T. लोअ निमन्तिअ सुर अपहु सुस अच्छसि कीस, P. लाय णिमन्तो सुल यपहु सुणं अच्छसि कीस, D. उटँ चण्डारी विसं वमितइ विणु उहसिर दीसु, P. हउ चण्डाली विणं ममितइ विशु उहसि न दिस, T. हउँ चण्डालि विस नमिताइ विस उहमि न दास।

D. इन्दीआली उट्ट तुहुँ हउ जाणनि हु चित्त, T. ईन्दीआलो उद्धे तुहुँ हसु जानमि तुह चित्त। P. इन्दी आलो उट्ठ तु हुउँ पाणमि तुहु चित्त, D. अम्हे डोम्बी चेअमणू मा करुणा विछित्तं, T. अम्हे डोम्बी च्छेअमण मा कार करुण विच्छित्त, P. अम्हे डोम्बी मा करुण विच्छित्ता।

VIII. *Hevajra Tantra*, Paṭala. V (=XV). The same verse occurs in the *Kriyā-samuccaya* (fol. 155a) as quotation from the *Hevajra* (तदुक्तं हेवज्रे). *Var. lect.* D. आइ न अओ न मज्जं तहो नउ नउ भव निर्व्वाण नहि, T. आईन अओ त मज्झ तहिँ नउ भव नउ निर्व्वाण,

IX

कोल्लइरे ठिअ बोला मुम्मुणिरे कक्कोला ।
घण किविड़ हो वाज्जइ करुणेकि अइ न रोला ॥
तहि वल खज्जइ गाढ़े मअणा पिजिअइ ।
हले कालिञ्जर पणिअइ दुन्दुरु वज्जिअइ ॥
चउसम कस्तुरि सिह्ला कर्प्पूर लाइअइ ।
मालइ इन्धन सालितहि भरु खाइअइ ॥
प्रेङ्खण खेट करन्ते सुद्धासुद्ध ण माणिअइ ।
निरंसुअ अङ्ग चड़ाविअइ जसरावि पणिअइ ॥
मलअज कुन्दुरु वटइ, डिण्डिम तहिँ ण वजिअइ ॥

P. आइ ण अन्त न मझ नउ नउ भव नउ निर्व्वाण । *Kriyā.*—आइ ण अन्त ण मुजा नहिँ णउ भव णउ निर्व्वाणा ।

D. एहु से परम महासुहोउ नौ पर नौ अप्पान, T. एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण, P. एहु सो परम महासुहो णौ पर णौ अपाणा, *Kriyā.* एहु सो परम महासुहो णौ पर णौ अपाना ।

See also *Sādhanamālā* II, p. 383, Sādhana of Kurukullā. The goddess is to be invoked by this *gāthā* in the state of ecstasy (इमं गाथां च स्मरेत्).

IX. *Hevajra Tantra*, Paṭ. IV (=XIV); *Kriyāsamuccaya*, 17*b*; *Indian Historical Quarterly*, Vol. VI, p. 394. D. कल्लइले, T. कोल्लयिरे ; D. किपिट्टि, P. किपिट ; D. वाज्जइ, T. वार्ज्जइ ; P. वेज्जइ ; D. अइन लोला, T. अनरोला, D.P. वल, T. वलु ; T. खोज्जइ ; D.P. पिजिअइ, T. पिज्जइ ।

D. हरे ; D. कालिञ्जल ; D. पणेअइ ; P.T. दुन्दुर ; D वज्र न अइ, P. वजिअइ ; D. omits कर्प्पूर, T. कर्प्पूरक ; E. इजइ, P. लाइअइ ।

X

सुण णिरञ्जण परम-महासुह णउ माअ सहाव ।
भावह चीअसहाव णउ णामि णउ जाव ॥१॥
णउ भव णउ णिव्वाण तँहि एहु सो महासुह वाज्ज ।
जो भावइ मणो-भावणेहि सो पारइ काज्ज ॥२॥
अक्खर मन्त विवज्जिओ णउ सो विन्दु ण चित ।
एहु सो परम महासुहो णउ फेड़िअ णउ खित ॥३॥
जिम पड़िविम्ब सहावे भाति ण भाविज्जइ भाव ।
सुण णिरञ्जण परममहासुह तहि पुण ण पाव ॥४॥
जिम जल माझ चन्द सहि णउ सो सा सुणमोच्छ ।
णउ सो मण्डलचक्क भाति सुण-सहांवे स्वच्छ ॥५॥

D. मालतो इन्धन, T. मालेइन्धन ; D. सारिनहि, F. सालिअतहि, P. सालिंतहि ; D. प्रखन, प्रेखन, P. प्रेखून, Chinese प्रेङ्खण ; D. खेरेन ; T. स्वट्ट ; P. खेट ; D.T. शुद्धाशुद्ध ; D. न मनेइ, T. न मुणिअइ, P. न मासिअइ ; D. न मनेइ, T. न मुणिअइ, P. न मासिअइ ; D. निरंशुकं ; P. निरंसुह, D. अग, D. चड़ावीतहि ; T. चअवीसुइ, P. चड़ावितहि, D. जसनाविपणेअइ, T. जसरावपणिअइ, P. जसरावि ; D. मलजि, T. मलयाजं, D. वाटइ, T. वाट्टेइ, P. वतइ ; D. लहि, T. जहिँ, P. तहि, वज्जअइ, T. वज्जिअइ, P. वजीअइ ।

X. These verse are quoted in the *Kriyāsamuccaya*, fol. 19^a (of my copy). They are described as the *Mahāsamaya-gītikā* to be sung in the accompaniment of dance by the Vajrayāna priests. The five verses invoke respectively the five goddesses: Nairātmya Yoginī, Locanā, Māmakṣā (called Māmakī in the *Hevajra*), Pāṇḍurā (called Cundā in the Hevajra) and Tārā—the

XI

सा वित्तौ किम्पि जलँ यत्तु विसेसें गौरवँ लहेइ।
अहिमुह पड़िअ गरलँ छिप्पि मुढ़ानँ कुणेइँ ॥

energies of the five *dhyānī* Buddhas. The text is very corrupt and the reconstruction is in many parts problamatic. Ms.—(१) सुणं निरञ्जन परम पहु मइ णि माय सहाव। भावहचोय सहावह तौ णासि नइ जाव॥ (२) नौ भव नौ निर्व्वाण ताहि एहु सो महासुह वाज्ज। जो भावइ मणो भावणेहि सो पवइ काज्ज॥ (३) अचर मन्त्र विवर्ज्जित णो सो विन्दु ण चित। एहु सो परम महासुहो णेहि णो होड़िअ णो मित। (४) जिम पड़िविम्ब सँहाव भाति म भाविजेइ भाव। सुणं निरञ्जन परमहु णो तहि पुणं ण पाउ॥ (५) जिम जल माझ चन्द सहि णउ सो सा चुणमोच्छ। निमसो मण्डल चाकभात णड़ासंहावे सुद्ध॥ The third verse is quoted in the *Sādhanamālā* II, p. 382, Sādhana No. 183 of the goddess Kurukullā. Text as established by Dr. Bhattacharyya is: अक्खरमन्त विवज्जियओ णउ सो विन्द ण वित्त। एसो परममहासुहओ णउ फेड़िअ णउ खिओ। The variants in other manuscripts compared by him are: मन्तं for मन्त, विवर्ज्जं for विवज्जियओ, भोउ for णउ, सुहो for सुहओ; णउ चित्त for णउ खिओ। The first line of the 5th verse is quoted in the commentary of the Caryās (*Carāycarya-viniścaya* p. 70) as a citation from the Āgama:—जिम जल मझे चंद स हि नोस—।

XI. See the commentary on the *Caryās*, (Śāstri, p. 21), It is a quotation from the *Bahiḥśāstra*; Text आ, जलं, विशेषेण, गौरवं, गरलं, मुतानं।

TEXTS AND COMMENTARIES

तिल्लोपादस्य दोहाकोषः

[2ª] * * * * *

तिल्लोपादस्य दोहायां क्रियते सारार्थपञ्जिका ॥

इह खलु महायोगीश्वरस्तिल्लो[पा]दो महाकरुणायमानः सत्वार्थं स्वाधिगतमर्थं प्रतिपादयितुकाम आह ॥१॥

कन्ध [भूअ] आअत्तण इन्दी ।
सहज-सहावेँ सअल विवन्दी ॥१॥

ऐहिकस्कन्धादीनां पारत्रिकस्कन्धादिहेतु[भूता]नां सहजेन शोधनं प्रथमत आह। स्कन्धेत्यादि। स्कन्धाः पञ्च रूप-वेदना-संज्ञा-संस्का[र]-विज्ञान-लक्षणाः। भूताः पञ्च पृथिवी-आप-तेज-वायु-आकाश-लक्षणाः। आयतनेन्द्रियाणि [2ᵇ] चक्षुः-श्रोत्र-घ्राण-जिह्वा-काय-मनोलक्षणानि। एतानि सह[जा]नि सहजस्वभावेन [बध्यन्ते]। किं सहजो भावस्वभावो वा भवेदभावस्वभावो वा। यदि भावस्वभावस्तदा संसार एव। यदि अभावस्वभावः तदा उच्छेदः—सोऽपि नष्ट एव इत्याशङ्कायामाह—

सहजेँ भा[वा]भाव ण पुच्छह ।
सुण करुण तहि समरस इच्छिअ ॥ इति ॥

सहजे भावाभावौ संसा[र]निर्वाण स्वभावौ [न] पृच्छते। यतः शून्यता-करुणे तत्र सहजे समरसे इच्छते। शाश्व[3ª][तोऽ]सौ आनन्दरूपः परमसुखः संकल्पमात्र इति। तस्मात् संकल्पाभिनिवेशेन [सहजा]त्मनः संसारबन्धनं मा कुरु इति। कथं तर्हि संकल्पाभिनिविष्टं चित्तं शो[धयितव्यमित्याह]—

Ms.—4. प्रतिपादयितु, 7. ऐहिकं, 9. आयतं°, 11. सहज।

मारह चित्त णिव्वाणेँ हणिआ ।
तिहुअण सुण्ण णिरञ्जण पलिआ ॥ इति ॥

संकल्पाभिनिविष्टचित्तं निर्व्वाणेन शून्यतालक्षणेन हत्वा मार्य्यतां। मारयित्वा च [त्रिभुव]न-शून्य-निरञ्जनज्ञानं प्रवेश्यतां—अयमत्र समुदायार्थः। सर्व्वप्रपञ्च-गोचरे [सहजज्ञानो][4ᵇ]च्छेदापातदोषभयात्। अप्रतिष्ठितरूपोऽपि सहज इष्यते। तथा चोक्तं—न ससा···णे अस्थिताय नमोऽस्तु ते इति ॥

अमनसिकार-स्वभावतत्त्वदूषकं कञ्चित् निराकर्त्तुमा[ह] ॥२॥

अमनसिआर म दूसह मिच्छे ।
अप्पाणुवन्ध म करहु रे इच्छे ॥ इत्यादि ॥

न [म]नसि क्रियत इति अमनसिकारः निर्व्विकल्पकं सहजज्ञानं तं मा दूषय सहज[स्वभा]वाभिनिवेशेन। तथा चोक्तं—यावान् कश्चिद्विकल्पः यः भवति मनसि [त्याज्य]रूपो[हि तावान् इति]। सहज[4ᵃ]ज्ञानेन चित्तं विशोध्यं निर्व्विकल्पसहजज्ञाने चित्तं स्थिरीक्रियतामिति। [चि]त्तप्रवेशनोपायमाह—

चित्त खसम जहि समसुह पइठ्ठइ ।
इ[न्दीअ-विसअ तहि मत्त]ण दीसइ ॥ इति ॥

चित्तमासङ्कलक्षणं। खसमेन शून्यताज्ञाने[न] समसुखे प्रविशति। तत्क्षणे च इन्द्रियैर्विषया न दृश्यन्ते। विक[ल्पा]नामुपसंहारमाह—

आइ-रहिअ एहु अन्त-रहिअ ।
वरगुरुपाअ अ[द्दअ कहिअ] ॥

[4ᵇ] शाश्वतान्ताभावात् आदिरहितमेतत् समसुखं। उच्छेदान्ताभावात् अन्त[रहितं। गुरुपा]देनाद्वयं कथितम् यद्देश[ना]रूपेण न तु वाचा कथयितुं शक्यते।

Ms.—3. -निष्ट-, 4. -ज्ञान, 7. तत्वद्ृ°, कश्चित्, 9. अप्पा, 10. -कार, 12. रूपं, 17. -विषपान्

तु मरइ जहि पवण तहि लीणो होइ णिरास ।
सअ[संवेअण तत्तफलु]स कहिज्जइ कीस ॥ इति ॥

यत्तु विकल्पचित्तं म्रियते पवनश्च [लीनो] भवति। तत् स्वसंवेद्य-लक्षणं तत्त्वं कस्य कथ्यते केन। स्वसंवेदनम् [तत्त्वफलं] [5ᵃ] साधारणमित्याह।

वढ़ अणाँलोअ-अगोअर तत्त पण्डिअ लोअ अगम्म ।
जोगुरुपा[अपसण तहिँ कि चित्त अगम्म] ॥ इत्यादि ॥

मूर्खजनगोचरं [त]त्त्वं बहुशास्त्राभिनिविष्टपण्डितलोकस्य चागम्यं। यः पुण्यवान् गुरुपादप्रसन्नः तस्य तत्त्वं गम्यं ज्ञातुं शक्यं तदेव व्यक्तीकर्त्तुमाह—

सअसंवेअण तत्तफल तीलपाअ भणन्ति ॥

इत्यादि। स्वसंवेदनं फलं तत्त्वं ये मनोगोचरप्राप्ताः पदार्थास्ते परमार्था न भवन्तीति। तिल्लोपादा भणन्ति। यत् स्वय[5ᵇ]म्भूयमानं निर्व्विकल्पकं महासुखं तदेव तत्त्वं नान्यविकल्पविषयाभावा इति संक्षेपार्थः। [विक]ल्प-नाशनोपायमाह—

सहजे चीअ विसोहहु चङ्ग ।
इह जन्महि सिद्धि [मोक्ख भङ्ग] ॥ इत्यादि ॥

स[ह]जेन चित्तं विकल्पज्ञानं शोध्यतां चङ्गं अतिशयेन। तदा इह जन्मनि सिद्धयो हि [लो]काः शान्तिकादयो भवन्ति। मोक्षञ्च प्राप्स्यसि अनेन शरीरेण। चित्तशोधन-फलं पुनरप्याह ॥८॥

जहि जाइ चित्त तहि सुणहु अचित्त ।
समरसँ [णिम्मल भावाभावरहिअ] ॥

इत्यादि। सहज···[6ᵃ]···दावे वा परिभावनयागन्तुकमलावृता न बुद्धात्मा परिभावयति। एवं द्वयरहित[समरस]ः सैव निर्म्मलं परमं चित्तं स्वभावतः शुद्धबोधिरूपं सर्व्वभावग्रहरहितं।

Ms.—3. -लक्षलं 5. वट- 14. सहजों-, चङ्गं, 19. सुणइ-

अहृअ चित्ततरुअर गउ तिहुअण वित्थार ।
करुणा फुलिअ फलधर [णाउ] परत उआर ॥

इति उक्ते सति परोपकारं सूचयति। यत् अद्वयचित्त-योगि[न] [दू]रं तरुवर[:] गजः। कल्पवृक्षमिव स च गतः त्रिभुवने विस्तर[तां……]म्यरमाहृय…… [6ᵇ] इदमात्मा[न]मिदं परः। येन केनचित् विपरिभावितं तेन वि[कल्प]-बन्धनेनात्मन[: सहजस्वभाव] विफलीकृतं। मुक्तोऽपि स्वभावया तदा न मुक्तः। तस्मात् स्वपरविभागं [न कुरु] ते यावत्। तदाह—

पर अप्पाण म भन्ति करु सअल णिरन्तर वुद्ध ।
तिहुअण णिम्मल परमपउ चित्त सहावेँ सुद्ध ।

इति। परश्चात्मानञ्च एकस्वभावं [मा सहज]रूपेण भ्रान्तिं कुरु। किन्तर्हि। सकलसत्वधातु-निरन्तरादाविव स्वभावेन यदा [7ᵃ] तदा बुद्धो भवतीति भावः। तदा जगदर्थः कथमित्याह—

सचल णिचल जो सअलाचार ।
सुण णिरञ्जण म करु विआर ॥ इति ॥

सचलं सत्वलोकः निश्चलं भाजनलोकः। यः सकलस्य लोकस्याचारो व्यवहार-स्तमाश्रित्याविचारितैकरमणीयत्वेन जगदर्थः प्रवर्त्तत इति भावः। शून्यं सकल-विकल्परहितं निरञ्जनं सवासनक्लेशजालकलङ्कविकलं तत्त्वज्ञानं। तत्र विचारो मा क्रियतां। यथा विकल्पकोऽपि चिन्तामणिर्यथाश्र[कं] [7ᵇ] जगदर्थं करोति। तथाविकल्पकमपि ज्ञानं प्रणिधानवेधात् सत्वानां पुण्याधि-पत्यादिनानाभागेन जगदर्थं करोतीति समुदायार्थः। आत्मात्मीयग्रहे दूषण-माह ॥१२॥

Ms.—1. तरुअरह 4. वाज: 15. A. superfluous स before सकल

एहुसे अप्पा एहु जगु जो परिभावइ ।
[णिम्मल-चित्तसहाव सो कि वुज्झइ] ॥ इत्यादि ॥

एष आत्मा एतत् जगदिति यः कोऽपि परिभावयति निर्म्मलचित्तस्वभावतां कथं सोऽपि बुध्यति। आत्मात्मीयग्रहावेशात् न तत्त्वं बुध्यतीत्यर्थः। तत्त्वभावकस्य योगिनः सर्व्वव्यापक[8ᵃ]त्वं आह ॥१३॥

हँउ जगु हँउ वुद्ध [हँउ] णिरञ्जण ।
[हँउ अमणसिआर भवभञ्जण] ॥ इत्यादि ॥

अहमेव जगत् अहमे[व बुद्धः] अहमेव निरञ्जनः अमनसिकारश्चाहमेव। भवः संसारस्तस्य भञ्जनो [भञ्ज]कः। इत्येवं तत्त्वाभिन्नमानसो योगी तत्त्वमयं जगदिति अहर्निशं भा[वयति]।

[मद्भवा] हि जगत् सर्व्वं मद्भवं भुवनत्रयं ।
मया व्याप्तमिदं सर्व्वं नान्यमयं दृश्यते जगत् ॥
एवं मत्वा तु वै योगी योऽभ्यसेत् सुसमाहितः ।
स सिध्यति न सन्देहो मन्दपुण्योऽपि [मानवः ॥ इ]ति ॥
भगवत् भगवतीभावना च तत्त्वेन शोधनीया इत्याह—

मणह [भअवा] खसम भअवइ । [8ᵇ]
[दिवारात्ति सहजे राहिअइ] ॥ इत्यादि ॥

मनो बोधिचित्तं भगवान् खसमं तद्व्यापकं महासुखं भगवती। तथा च [श्रीहेरुक]राजतन्त्रे—शुक्राकारो भवेद्भगवान् तत्सुखं कामिनी स्मृतमिति। अथवा……[क]रुणा भगवान्। खसमशून्यता सा भगवती। शून्यता-करुणाभिन्नज्ञा[नं भगवती] भगवान्। भगवती च नान्या। इत्येवं अहर्निशं सहजेन चित्तं योजयि[तव्यं]। तथा चोक्तं सम्पुटे—नदीस्रोतः प्रवाहेन दीपज्योति[:]-प्रबन्धव[त्] ॥

[9ᵃ] [सहजत]त्वयोगेन स्थातव्यं चाहर्निशमिति। जन्ममरणविकल्पश्च योगिना न कर्त्तव्य इति……।

जम्म मरण मा करहु रे भन्ति ।
[णिअचित्त तहिँ णिरन्तर होन्ति] ॥ इत्यादि ॥

जन्म उत्पादः मरणम्विना……[अ]यमपि विकल्पमात्रमेव न तत्र भ्रान्तिः कर्त्तव्याः। तथा चोक्तं—मृत्युर्नाम विकल्प………नीयते खेचरीपदमिति। पुनरुक्तं—प्रणिधानावेध सामर्थ्यात् सत्वानां पुण्य……। उत्पादस्तत्त्वरूपेण नान्यरूपेण विद्यत इति। तस्मादात्मीयं चित्तं निरन्तरे स्थि[तं भवति] [9b]—न विद्यते अन्तरं व्यवायोऽस्मिन्निति निरन्तरं। शून्यताकरुणाभिन्न……[अह]र्निशं स्थातव्यमिति भावः। तत्त्वभावकस्य योगिनो हितार्थ्यतया [तपो]वन-से[वन]माह—

तित्थ तपोवण म करहु सेवा ।
[देहसुचिहि ण सन्ति पावा] ॥ इत्यादि ॥

बाह्यतीर्थतपोवनसेवां मा [कुरु]। [जल] स्नानेन बाह्यरूपेण मोक्षं न प्राप्स्यति। अयमत्र समुदायार्थः। महा[यानमेव] तीर्थं। तदुद्भव-ज्ञानधारया सकल-विकल्पमलं प्रक्षाल्य मोक्षं प्राप्यते। [बाह्य] [10a] तीर्थादिजलस्नानेनेति। तत्त्व-भावकेन योगिना लौकिकदेवताऽर्च्चनं न कर्त्तव्यं इति [प्रतिपा]दयति।

वम्हा विह्णु महेसुर देवा ।
[वोहिसत्त्व म करहु सेवा] ॥ इत्यादि ॥

ब्रह्मा विष्णु महेश्वरश्च त्रयो [देवा बो]धिसत्त्वेन सर्व्वथा न नमस्कर्त्तव्याः अधममार्गे व्यवस्थितत्वात्। तथा चोक्तं [अष्टसा]हस्रिकायां प्रज्ञापारमितायां—नान्येभ्यो देवेभ्यः पुष्पम् वा धूपदीपं दातव्यं [अथ]वान्यान् देवान् न उपासते इति। तदेवाह—

10. तपोवन ; 12, 13, 14. तीर्थ्यं 15. अर्च्चन नमस्कर्त्तव्यो

देव म पूजहु तित्थ ण जावा ।
[देवपूजाहि ण मोक्ख पावा] ॥ इति

[10b] प्रस्तरादिदेवपूजा न कर्त्तव्याः। बाह्यतीर्थगमनञ्च न कर्त्तव्यं। बाह्यदेवताराध[नेन ती]र्थस्नानेनाधिमोक्षं न प्राप्यते।

वुद्ध आराहहु अविकलचित्तेँ ।
[भवणिव्वाणे म करहु रे थित्तेँ] ॥ इत्यादि ॥

[अ]द्वयज्ञानं प्रज्ञापारमिता च सोऽभिधीयते। तथाचोक्तं दिग्नागपादैः—प्रज्ञापा[रमि]ताज्ञानं अद्वयं। सा तथागत इति। आराध्यतां सेव्यतां अविकलेन [दृढ़ेन] चित्तेन। भवसंसारे निर्व्वाणे उच्छेदे च स्थितिर्मा कुरु। तदेव पुनः प्रतिपाद[यति]—

[11a] पग्गोपाअ-समाहि लग्गहु ।
जहि तहि दिढ़ कर अणुत्तर सिद्धइ ॥ इति ॥

[प्रज्ञोपायस]माधिः शून्यताकरुणाद्वयसमाधिः। तत्र लग्नो भव। यदि तत्र [चित्तं दृढ़ीक्रिय]ते तदानुत्तरं बुद्धज्ञानं सिध्यति नात्र संदेहः। तत्त्वपरिज्ञाने…

जिम विस भक्खइ विसहि पलुत्ता ।
[तिम भव भुञ्जइ भवहि ण जुत्ता] ॥

यथा विषं भक्षयति वि[षतत्त्वज्ञः तस्य]विषेण मरणं न भवति तथा भवं संसारसुखं विषयादिकं भुंक्ते योगी। न[तु तस्य यो] [11b] गिनो विषयेण संसारवन्धनं भवति। तथा चोक्तम् हेवज्रे—

येनैव विष[खण्डेन म्रियन्ते सर्व्वजन्तवः]।
तेनैव विषतत्त्वज्ञो विषेण स्फोटयेद्विषं ॥
येन येन हि वध्यन्ते जन्तवो …।
[उ]पायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भववन्धनात् ॥ इति

कर्म्ममुद्रां विना ये गत्वा [……प्रतिपाद]यितुमाह—

कम्ममुद्द म दूसह जोइ
[खण आणन्द भेउ जाणिज्जइ॥] इत्यादि।

......[च]त्वारः क्षणाः। चत्वारश्चानन्दास्तयैव परिज्ञायन्ते। तथा चोक्तं हेवज्रे—

[एकाराकृति यत् दिव्यं] [12ᵃ] मध्ये वंकारभूषितं।
आलयः सर्व्वसौख्यानां बुद्धरत्नकरण्डकं॥
आनन्दास्तत्र जायन्ते क्ष[ण]भेदेन भेदिताः।
क्षणज्ञानात् सुखज्ञानं एवंका[र]प्रतिष्ठितं॥
विचित्रञ्च विपाकञ्च वि[म]र्द्दञ्च विलक्षणं।
चतुःक्षणं समागम्य एवं जानन्ति योगिनः॥
विचित्रं विविधं [ख्या]तं आलिङ्गनचुम्बनादिकं।
विपाकं तद्विपर्य्यासं सुखं ज्ञानस्य भुञ्जनं॥
विमर्द्द[मा]लोचनं प्रोक्तं सुखं भूतमयेतिव।
विलक्षणं त्रिभ्योऽन्यतरागारागविवर्ज्जितं॥
[12ᵇ] [विचि]त्रे प्रथमानन्द परमानन्द विपाकके।
विरमानन्दो विमर्द्दे च सहजानन्द विलक्षणे॥ इत्यादि।

क्षणभेद आनन्दभेदश्च कथं परिज्ञायते कर्म्ममुद्रा विना। तस्मात् [कर्म्म]मुद्रा न दूषयितव्या। मयैव लक्ष्यलक्षणहीनं तत्त्वं परिज्ञायते। परमा[नन्द]श्चा नयोर्मध्ये लक्ष्यं वोच्य दृढीकुरु इति वचनात्। तदेव प्रतिपादयति—

लेहुरे [प]रमधिर म विआरी।
णिउणेँ वरगुरु चरण आराही॥

निपुणेन वरगुरुचरण [13ᵃ-ᵇ] * * *

[14ᵃ]पाययेत् तासां स्वयञ्चैव पिबेत् व्रती।
पश्चादनुरागयेत् मुद्रां स्वपराथप्रसिद्धये।

कक्कोले बोलकं क्षिप्ता कुन्दुरु कुरुते व्रती।
तस्मिन्योगसमुद्भूतं कर्पूरं सहजं स्मृतं॥ इति।

तदेव पुनः स्फुटयति—

खण-आणन्द-भेउ जो जाणइ।
सो इह जम्महि जोइ भणिज्जइ। इति।

क्षणानामानन्दानाञ्च भेदं यो जा[ना]ति स एव इह जन्मनि योगी इति भण्यते तत्त्वोपायपरिज्ञा[ना]त्। तत्त्वस्य स्वरूपमाह—

गुण-दोस-रहिअ एहु परमत्थ।
सअसंवेअण केवि णात्थ॥

गुण[14ᵇ]दोषैः रहित एष परमार्थः। स्वसम्वेदनेन केनापि नार्थः प्रयोजनं। नहि गुणास्तत्रारोपयितव्याः। दोषास्तस्मादपनेतव्याः। तथा चोक्तं—

नापनेयमतः किञ्चित् प्रक्षेप्तव्यं न किञ्चन।
द्रष्टव्यं भूततो भूतं भूतदर्शी विमुच्यते। इति।

अभ्यासे दृढतामाह—

चित्ताचित्त वि वज्जहु णित्त।
सहज-सरुएँ करहु रे थित्त। इति।

चित्ताचित्तं (नित्यं) परित्यज्य देवतामूर्त्ति चेतसा।
दिनमेकमविच्छिन्नं भावयित्वा परीक्षथ॥
नान्योपायोऽस्ति संसारे स्वपरार्थप्रसिद्धये।
सकृदभ्यासि···[15ᵃ]द्या प्रत्ययकारिणी॥ इति।

तत्त्वस्य गमनागमनरहिततामाह—

आवइ जाइ कहवि ण ण[इ]
गुरुउवएसेँ हिअहि समाइ॥ इति।

Ms.—1. कक्कोल 10. दोसै 12. किञ्चन 15. -चिन्ता 17. चिन्ता 23. उवएसेँ

तत्त्वं न कुतश्चित् आयाति, न कुत्रचित् याति। न कस्मिन्नपि स्थाने तिष्ठति। तथाचोक्तं अष्टसाहस्रिकायां—न हि कुलपुत्र तथता आगच्छति [न] गच्छति वा अचलिता तथता। एवमेव कुलपुत्र तथागतस्यागमनं वा गमनं वा न प्र[जा]यत इत्यादिविस्तर[:]। एवंभूतमपि तत्त्वं गुरूपदेशेन हृदये संयाति। तत्त्वस्य वर्णा[वर्ण] [15ᵇ]रहिततामाह—

वर्ण वि वज्जइ आकिइ विहुणा
सव्वाआरे सो संपुणा ॥

वर्णितम···दिना वर्ज्जितः। उक्तञ्च परमार्थस्तोत्रे—

न रक्तो हरितो माञ्जिष्ठो वर्णस्तेनोपलभ्यते।
न पीतः कृष्णः शुक्लो वा अवर्णाय नमोऽस्तु ते॥ इति।

आकृत्या च भुजमुखादिना विहो[नः]। उक्तञ्च—

न महान्नापि ह्रस्वोऽपि न दीर्घः परिमण्डलः।
अप्रमाणगतिं प्राप्याप्रमाणाय नमोऽस्तु ते॥ इति।

तथापि स सर्व्वैराकारैः संपूर्णः सर्व्वाकारवरोपेता शून्यतायै...[16ᵃ] मता इति वचनात्। इदानीं तद्विपक्षक्षये यत्नः करणीय इत्याह—

ए मण मारहु [लहु चित्ते] णिम्मूल इत्यादि

एतत् मनः विकल्पभूतं संसारकारणं लघु शीघ्रं मारय। कथं भू[तं] इत्याह। अशेषचिन्ताया अविद्यायाश्च मूलं प्रधानं कारणं। तथाचोक्तं—

न विकल्प···। तेनापेत विकल्प···तिरिति।

त[हिँ महामु]द्द इत्यादि।

एतैश्चतुःकायैः निर्म्माण······[16ᵇ]······कर्म्मधर्म्म (?) ज्ञान महामुद्राः प्राप्यन्ते योगि······वि]षयाणां शुद्धभावत्वात्। स्व······सुखं।·········येऽपि अन्ये प्रतिभासन्ते हि योगिनः। सर्व्वं ते शुद्धभाव हि। यस्मात् बुद्धमय ज[गदो]ति। तिल्लोपाद आत्मनोऽनुभवम् भणति—

Ms.—1. कश्चिदपि 3. तयथा, 4. संमाति 10. अवस्थाय 22. विषयानां।

हउ सुण जगु सुण तिहुअ[ण] सुण
[णिम्मल सहजे ण पाप ण पुण] ॥ इत्यादि।

अहमपि शून्यं विकल्पमाचरत्वात्। जगदपि शून्यं विकल्पमात्र[मेव]। [17ᵃ] त्रिभुवनमपि शून्यं। निर्म्मल मलरहिते सहजे महासुखं। न पापं न पुण्यं सम्भवति। तथाचोक्तं—

अनाविलमहाज्ञानं ज्योतीरूपप्रभास्वरे।
पापपुण्यकथा कुत्र विकल्पागोचरे शुभे॥

जहि इच्छइ तहि जाउ मण एत्थु ण किज्जइ भन्ति।
अध उघाड्यि आलोअणेँ ज्झाणेँ होइ रे थित्ति॥ इति।

यत्र इच्छति तत्र मनो यातु। अत्र भ्रान्तिर्मा क्रियतां। मनोगमनमार्गमाह। अधः स्थितं निर्म्माणचक्रात् [उद्भूतं] [17ᵇ] अवधुतीमार्गं उद्घाट्य मुक्तीकृत्य आलोकेन चण्डाग्निज्ञानोल्कया ध्यानेन महासुखस्य स्थितिर्भवति। अयमत्र संक्षेपार्थः। चण्डालीयोगभावनया महासुखचक्रे चित्त[स्थि]रीकरणं हि सहजस्फुटीकरणं कारणमिति श्रीमहायोगीश्वर-तिल्लोपादस्य दोहाकोषपञ्जिका सारार्थपञ्जिकानाम समाप्ता॥

सरहपादस्य दोहाकोषः

नमः श्रीवज्रसत्त्वाय ।

नमस्कृत्य जगन्नाथान् गुरून् सततमादरात् ।
लिख्यते दोहाकोषस्य सहजाम्नायपञ्जिका ॥
[18a] सरोजवज्रपादैश्च कृतं तदागमानुगं ।
न किञ्चापूर्व्वमुद्दिष्टं भगवता कथितं पुरा ॥
षड्दर्शनेषु यत्तत्वं न जानन्ति तदाश्रिताः ।
जातिवादादिमाश्रित्य ब्राह्मणादिनिरर्थकाः ।
भ्रमन्ति षड्गतौ भ्रष्टा मोचा मोचात्मगर्हिताः ।
प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्च प्रमाणद्वयबाह्यकाः ॥
सम्यग्मार्गविरहाच्चैव पापमित्रेषु सङ्गताः ।
तस्माद् गुर्व्वाराधनं यत् क्रियते साधुभिः सदा ॥
तस्य तुष्ट्या भवेन्मुक्तिरिह लोके परत्र च ।
ददाति सर्व्वसद्भावं तथागतोक्तमादरात् ॥

[18b] अत्र तावत् षड् दर्शनानि उच्यन्ते । ब्रह्म-ईश्वर-अर्हन्त-बौद्ध-लोकायत-सांख्याश्च । एतेषां क्रमव्यतिक्रमेण ग्रन्थकार आह । **वम्हणेहिमित्यादि ण जाणिअ तुल्लेमिति पर्यन्तं ।**

A. Text as printed by late MM. Haraprasād Śāstrī. B. Manuscript in the possession of Rājguru Hemraj Śarmā—the basis of the present edition. C. Fragmentary manuscript of the Darbar Library. HS: corrections made by H. P. Śāstri in his text. MS. : Restorations made by M. Shahidullah ; Tib.—Tibetan.

2. B. दोहाकोशस्य । 3. B. तदागमानुगं । 4. A. भगवता कथितं—HS. corrects: भगवत् कथितं । B. भगवान् कथिता । 5. A. यत्तन्न । B. आश्रित्य ; 6. B. निरर्थकः । 7. A. मोचामोचात्मागर्हिताः । 9. A. विरहाच्चेव ; B. विरहाच्चैव । B. संगहाः । 11. B. तुष्टा ; 12. B. तथागतोक्तमादरादि[भिः] । 14. A. सांख्या ; A. ग्रन्थकारार आह ; B. ग्रन्थकारमाह ; HS. corrects: ग्रन्थकार आह. A. °मित्यादिणा ; HS. °मित्यादिना । 15. A. पर्यन्त ।

ब्राह्मणस्य निरासार्थमुच्यते तत्र—

वम्हणेहि म जाणन्त हि भेउ इति ।

ब्राह्मणा न जानन्ति भेदं प्रभेदञ्चेति । तत् कथं भेदकस्य भेद इत्याह । तत्र प्रथमतः जातिभेदः । तेषां वाक्यं यतः चतुर्व्वर्णानामुत्तमो ब्राह्मणवर्णः । तन्निषिध्यते प्रमाणागम-युक्त्या च । तर्हि यदि [19a] तावत् जात्या ब्राह्मणः । ब्राह्मणो मुखमासीदिति वचनात् । तदा तस्मिन् काले ब्राह्मणोच्यते—अयमेव स्यात् । तत् कथं । इह प्रत्यक्ष-प्रमाणेतरयोनिसम्भवमेवेति । पूर्व्वभावस्तस्मात् एकाभावे अनेकपर्य्यालोचित-वस्तु न स्यात् । तेषामपि यत् मुखमासीदिति मृषैव वचनं धूर्त्तरचनादिति । अथवा संस्कारेण ब्राह्मणस्तदेवं न भवति । कथन्न भवति—आह । अन्त्यजस्यापि संस्कारः क्रियते । स कथं न ब्राह्मणः स्यात् । तस्मात् न सिध्यति जातिः । तत् कथं जात्यभावेन [19b] वेदः स्वयम्भूः । आह—

एवइ पढ़िअउ ए च्चउ वेउ इति । जातिभेदजानद्भिरेवम्पठिताश्चतुर्व्वेदाः । ऋक्सामयज्वथर्व्वाश्च । एतच्चान्त्यजानां न विरुध्यते । पाठाधिकरणञ्चेति । द्वयोर्नावबोधात् । अथ शब्दमात्रे चावबोध । तदा सर्व्वेषामपि साधारणत्वमायाति । यथा व्याकरणमध्ये वेदान्तस्य शब्दः साध्यते । तदेव शब्दमात्रं लोकातिलक्षणं । न पुनः परमार्थः कश्चित् । शब्दश्च नित्यरूपकं न नित्यं भवति स्वयम्भूश्चेति । कथमुच्यते नित्यम् इति । यथा लोकस्य [20a] सत्ता

2. A. **न जानन्त** ; A. भेड़ ; MS. restores as भेउ । 3. A. प्रभेदचेति । A, भेदस्य ; A. भेदमुते—HS. भेद उच्यते । 4. A. प्रथमतो जातिभेदं । A. वाक्यं. It is better to correct तन्निषिध्यते as तत् न सिध्यति । 5. A. प्रमाणागमाभ्यां युक्त्या । 6. A. ब्राह्मणोमुख आसीत्, HS. ब्राह्मणोमुखमासीत् । A. तस्मिन्नेव काले । A. °णोण्यस्मात् । B. ब्राह्मणोच्यत्यमेवस्यात् । HS. °नोऽन्यस्मात् । 7. A. °प्रमाणात् योनिसम्भव चेति ; HS. प्रमाणात् योनिसम्भवाच्चेति । 8. A. अनेक पर्य्यालोचितं । 9. A. यत् मुख आसीदिति । A. धूर्त्तवचनादिति । 10. A. °स्तदेव न भवति । 10. A. कथ आह ; HS. कथमाह । 11. A. तस्मान्निषिध्यते जातिः । 12. A. B. **पटिअउ,** MS. restores **पढ़िअउ ।** A. **ए चउवेअ** MS. **ए चउव्वेउ ।** 14. A. °अथर्व्वाः । A. एतए, B. एतच्च (?). A. वान्त्यजाना ; HS. वान्त्यजानां । 15. A. चाववोधः 16. A. वेदात् तथ । 17. A. पुनः HS. पुन । A. कश्चित् ; B. किञ्चित् । A. शब्दोवनित्यरूपको ; HS. शब्दोवानित्यरूपको । 18. A. नित्य ।

नास्ति अनित्यत्वादिति। तथा तद्विलीनं वेदेषु प्रामाण्यं नास्ति। कारकाभावात् विरोधः। ग्रामो नास्ति कुतः सीमा। तत् कथं कारकं नास्ति आह स्वयमेव सिद्धत्वात् पुरुषकारकरूपं तच्च प्रत्यक्षेऽपि स्कन्धानां विनाशोऽस्तीति। प्रतीत्य-समुत्पादत्वात्। पूर्व्वाभावात् परस्य सत्ता नास्ति मायावद्रूपदर्शनात्। संयोग-मात्रमेवेति। भ्रान्त्या सम्भवात्। एवं सर्व्वसंसारं भ्रान्तिमात्रतया अजानानाः षड्गतौ भ्रमन्ति। तन्निरोधात् सर्व्वं सुखं भवतीति। अनेनापि वेदः क्रियामा[20b]त्रं तत्र भवति। कारणाभावे कार्यस्योपचरणं। अलीकमेवेति विस्तरः। तस्मात् अविप्रमाणत्वे सर्व्वं क्रियते। स चाह—

मट्टीत्यादिना अग्गिहुणन्तमिति। किन्तेन अग्निहोत्रेण च।

कज्जे विरहिअ हुअवह होमेँ इति। कार्यविरहितेनाग्निहोत्रेण। घृतादिहोमं नास्ति। कथं परमार्थमजानताञ्च फलन्न भवति। तदा अन्त्यजस्यापि तादृशं भवेत् निष्केवलं।

अक्खि डहाविअ कड्ुएँ धूमेँ इति। अत्यन्तकटुधूमेन चक्षुषि दाहं करोति। यया रोगपीड़ा भविष्यति। तर्हि [21a—21b] कथं। तेषां तत्त्वमाह। परब्रह्ममिति। तच्च नानाप्रकारं वदन्ति। ब्रह्मज्ञानमित्यादि। तत्र परब्रह्ममिति। याज्ञिकवचनहोमेन ब्रह्मत्वं यान्ति। तच्च स्वर्गकामोपभोग-

1. A. अनित्यत्वादिति ; HS. अनित्यत्वादिति। A. प्रमाण्यं ; HS. प्रामाण्यं। A. कारक-भावान् ; HS. कारकभावान्न ; 2. A. सिमा, HS. सीमा। A. नास्तिः, HS. नास्ति। 3. A. सिद्धत्वात्। पुरुष—B. सिद्धत्वाद्दणहपुरुष—(?). A. कर्म्मना विनासो अस्तीति ; HS. कर्म्मणा बिनाशोऽस्तीति। 4. A. पूर्व्वभावात् ; HS. पूर्व्वाभावात्। A. सयोगं HS. संयोग-। 5. A. समभावात् ; HS. सम्भवात्। A. अजानाना ; 6. A. तं निरोधात् HS. तन्निरोधात्। A. भवति। 7. A. क्रियामावं न—A. कारणाभाव. HS. कारणाभावे ; A. कार्य्यस्योपचारणमलीक—A. अविप्रमानत्वे 8. HS. अविप्रमाणत्वे, broken in B ; 9. A. **अग्गिङ्गणन्तेति।** MS. **अग्गि हुणन्त।** MS. reconstructs the stanza thus: **मट्टी [पाणी कुश लइ पढ़न्त। घरहिँ वइसी] अग्गि हुणन्त।** 10. A. **वभमवहइति ;** MS. **वहन्ति होमि।** 11. A. फलं भवति। A. अन्तजस्य ; HS. अन्त्यजस्य. 12. A. तादृशं तादृशं। A. निस्कीवलं, HS. निस्कैवल्यं। 13. A. **कड्ुए धूमेमिति** ; MS. **कड्ुए धूमेँ** ; B. कटुधुमेण, fol $21^{a\text{-}b}$ missing in B. 14. A. तेषा, HS. तेषां ; 16. A. ब्रह्मत्व HS. ब्रह्मत्वं ; A. °भोगफल ; HS. °भोगफलं।

फलं तेषामभिलषितञ्च। तथा स्वे तच्छागनिपातनया नरकादिदुःखमनुभवन्ति। सन्धाभाषमजानानत्वात् च। तस्मात् ब्रह्मब्रह्महत्या वेत्यापादि।

सर्व्वं ब्रह्ममिति वचनात्। एवं ब्रह्मज्ञानमिति। तदपि न सिध्यति। कुतो यच्चतुर्थवेदाथर्व्वणेन च तेषां योगाचारदर्शनं स न वेति। वेदत्रयेषु पाठमात्रमपि न सिद्धं। तदा सत्यविच्छिन्नं मृषैव वचनं। अथ तत्रोक्तं सर्व्वं नास्ति ब्रह्मज्ञानं। तदा वेदत्रयस्य प्रामाण्यं नास्ति तथा निषेधात्। चतुर्थस्याथर्व्वणस्य स नास्ति, अन्योऽन्यविरोधात्। तस्मात् हि आगमेषु कथं ब्रह्मज्ञानं सिध्यति। असिद्ध-मेवेति। अथवा यद्यनुभवं भवति। तदात्यन्तमृषा वचनं। कुतः। यत् सर्व्वं शून्यमिति। वस्तुन उपलब्धिर्नास्ति। कुतस्तज्ज्ञानं भवति। अनुभवञ्च साकारत्वेनोपलब्धिस्तदाज्ञानमेवेष्यते। सर्व्ववस्तुनो अनुपल[22a]म्भादिति। वस्तु च लोककल्पितमज्ञानस्वभावं। न पुनः परमार्थः स्यादिति। परमार्थश्चास्म-द्दर्शने सद्गुरोर्मुखात् लभ्यत इति।

एवं ब्राह्मणस्य पुनरपि चत्वारो भेदाः। ब्रह्मचारी वानस्पत्य गार्हपत्य यतिश्च। तदप्यसङ्गतं। कुतः यतः बालत्वे नास्ति निश्चयः। रक्षणभक्षणादि-भावेषु। तथा ब्रह्मचारित्वं सर्व्वदर्शनानां दृढ़प्रतिज्ञयैव क्रियते। आजीवं यावत्। न तेषां निश्चयः। पुनरपि विवाहादिना गार्हपत्यमाश्रयन्ति। तत्रापि च न निश्चयः। वानस्पत्य [22b] त्वमाश्रयन्ति ध्यानमन्त्रजपादिकारणेन। तत्र

2. A. सन्ध्याभाषजानानत्वा च ; HS. °जानानत्वात् च। A. ब्रह्महात्या HS. ब्रह्महत्या। 3. A. सर्व्व व्रमिति : HS. सर्व्वं ब्रह्ममिति। 4. A. य चतुर्थं HS. यच्चतुर्थं। A. वेदार्थर्व्वणेन—printing mistake for वेदाथर्व्वणेन। A. योगाचारदर्शन HS. योगाचारदर्शनं। 5. A. मृषेवचनं HS. मृषैववचनं। 8. A. वचन HS. वचनं ; 9. A. सुन्यमिति ; HS. शून्यमिति। 11. A. परमार्थः स्यादिति occurs twice. A. परमार्थश्चास्माद्दर्शने HS. °श्चास्मद्दर्शने। 13. A. वेदाः ; 14. A. यदिश्च : HS. यतिश्च। A. तदस्मसङ्गतं HS. तदप्यसङ्गतं A. यती ; 15. A. दृढ़-प्रतिव HS. दृढ़प्रतिवन्धः ; A. आजीव ; HS. आजीवं ; 16. A. तेषा ; H. तेषां। A. न पुनरपि, A. विवाहादिना ; B. विहारादिना ; A. गार्हपत्यत्वम-, 17. B. वाणस्पत्यत्व- A. ·जाप-

च न निश्चयः यदि यतित्वमभिलषति। सव्वयज्ञोपवीतादीनां धारणात् भक्षणात् नास्ति ब्राह्मणचण्डालयोर्भेदः। प्रस्तावतश्चण्डालत्वमेवेति। सत्यं कुतो यतः ब्राह्मणी चोरचण्डालादिना भ्रंशं करोति। तदा ब्राह्मणो वेद मालोचयति। तेन तस्या ब्राह्मण्याः घृतयोनिकरणात् शुद्धिः स्यादिति। तस्मात् सव्वं चण्डालकर्म्मैवेति। पुनरपि यतेरपि त्रयः प्रभेदाः—**दण्डि** इत्यादि।

एकँ दण्डि त्रिदण्डी भअवँवेसेँ
विणुआ होइअइ हँस उएसेँ ॥ इति ॥

एकदण्डी त्रिदण्डीति भगववेशं भवति। एवं वेशेन विहरति। पुनरप्ये-तद्व्रतं त्यज्यं करोति। अन्यमाश्रयति। एतदेवाह—**विणु[आ होइ]अइ हँस उएसेँ** इति। यावन्न परमहंसवेशं भवति तावत् ज्ञानं न लभ्यते, सर्व्व-सन्यासत्वात्। तदपि च न भवति। कुत[:] अविद्यावासनाग्रहग्रस्तत्वात्। प्रत्यक्षं दृश्यते। गार्हपत्यत्यागकाले सव्वं यत्किञ्चित् द्रविणादि वस्तु साधितं तत्सव्वं पुत्र[23ᵇ]पौत्रादिभ्यो दत्तं न सर्व्वसत्त्वेषु साधारणं करोति। न केवलं जातिमवरोपणं करोति मदीयकुलाविनष्टत्वात्। <u>तस्मात्</u>—

नष्टास्ते मूर्खदेहिनोऽसत्कर्म्मवादिनः सदा।
न जानन्त्येव सत्तत्त्वं मोहिताः पूर्व्वकर्म्मतः॥

तया च स्वयं नष्टाः परानपि नाशयन्ति। एतदेवाह—**मिच्छेहीत्यादि**।

1. A. यदित्वम— ; HS. यतित्वम— : A. ०यज्ञोपवीता दिना— 2. A. प्रतावतो चाण्डालत्वमेवेति ; HS. एतावता० ; A चौंरचण्डादिना ; HS. चौरचन्डालादिना। A. चौरचण्डादिना ; HS. चौर-चण्डालादिना ; 4. A. आलुकुयति, HS. आलोचयति। B. तस्य, 5. A. यत्नेनापि B. यतेरपि। 6. A. **एव,** HS. **एक,** MS. **एक ;** A. **त्रिदण्डि,** A. **वेशेँ,** 7. B. **विणपा ;** A. **होइअ ;** A. **हन्स,** A. **उवेसँ।** MS. restores **विणुआ होइअ हंसउ** **वेशेँ।** 8. A. एकदण्डि, A. त्रिदण्डी, HS. त्रिदण्डि ; A. वेंसं ; HS. वेशं A. एव ; HS. एवं ; 9. A. त्याज्यं ; आश्रयन्ति। A. **विणुआ होइअ हन्स उवेसे** 11. A. तावज्ज्ञानं 13. A. पुत्र पुत्रादि° ; A. साधारण, HS. साधारणं, A. केवल, Hs. केवलं, 14. A. जातिमवरोपन, HS. °रोपनं। A. °कुलाकुलानष्टत्वात्, 16. A. जानंतैव HS. जानत्येव A. सत्तसत्त्वं 17. A. has ते before तया and has no च after it. A. **मिच्छे**इत्यादि।

मिच्छेहिँ जग वाहिअ भूल्लेँ इति। मृषावाक्येन समस्तजगत् मूर्खलोकः कुमार्गेषु वाहितः। इदं च—

धम्माधम्म ण जाणिअ तुल्लेँ इति। इह धर्म्माः सर्व्वपदार्थाः सत्त्वनि[24ᵃ] कायादिरूपाः करुणाविषयाश्च तद्रहिता अन्येऽधर्म्माः कायादिलक्षणाः ताभ्यां तुल्यमद्वयं न जानन्ति विशिष्टमार्गमिति सिद्धान्तः। संक्षेपतो विस्तरोऽन्यत्रा-वसेयः। न पुणः पुण्यपापादितुल्यमिति।

इदानीमीश्वराश्रितानामुच्यते। **अइरि** इत्यादि **दक्खिणँ उद्देसेँ** इति। अत्र—

अइरिएहिँ उद्दूलिअ च्छारेँ इति। अयिरीति उद्धूलितं क्षारेण। एवं बाह्यभस्मना म्रक्षितमङ्गानि भगवेषु निश्चयमतत्वात्। पुनरपि—

सीससु वाहिअ ए जड़भारेँ इति। शिरसि[24ᵇ] नानाकेशकृतं जटाभारं वहन्ति। अन्यच्च—

घरही वइसी दीवा जाली इति। लोकस्य कुहनया स्वस्थानेषु प्रदीपं प्रज्वाल्य स्थितत्वात् च।

कोणहिँ वइसी घण्डा चाली इति। ईशानकोणमाश्रित्य घण्ढां चालयति। पुनरत्रैव—

अक्खि णिवेसी आसन वन्धी इति। एतच्च कुहनाया मूललक्षणं। चक्षुर्निमेषोन्मेषाभ्यां कृतं। आसनं पर्य्यङ्कं वा निबन्धनं कृत्वा तदनु—

1. A. **भूल्ये**ँ 2. A. समस्तं जगत् A. कुमार्गे। HS. takes इद['] च as a part of the *dohā* by mistake ; 3. A. **धर्म्माधर्म्म** A. **तुल्ये**ँ 4. A. तच्चहिता A. °धर्म्मकायादि° 5. B. विस्तरान्यत्रावसेयं 7. A. **दच्छिण,** B. **दच्छिणँ ;** MS. restores **दक्खिण** A. **उवेसे** 9. A. **अइरिएहिँ,** B. **उद्दूलिड(?) ;** A. अइरोणि 10. A. म्रक्षितांगानि A. भगवेशेषु A. निश्चयमज्ञानात्, 11. A. **वाहिय।** 12. A. जटाभार, HS. जटाभारं। 13. B. **घरही ;** B. **वअसी,** 14. A has no च after स्थितत्वात्। 15. A. **कोनेहिँ** B. **घण्टा,** A. घण्डा HS. घण्डां ; 17. A. **अखि ;** A. कुहणया— 18. B. चक्षुर्मिमेषोन्मेषाभ्यां कृतं। A. पद्मासनं पर्य्यङ्कनिवन्धनं।

कर्णेहिँ खुसुखुसाइ जन धन्धो। एवं पूर्व्वोक्तं अयिरिकस्य लक्षणं दृष्ट्वा धन्धजनानां[25a] हेयोपादेयमजानताञ्च कर्णाभ्यां खुसुखुसायति। अन्योऽन्यमालोचयन्ति—इदं विशिष्टमार्गं तत्राहं लग्नोऽस्मि शृणुत जनाः।

रण्डि मुण्डी अण्ण वि वेसेँ इति। रण्डीति स्वामिरहिता। मुण्डीति मासिकोपवासोकी या। अन्याः पुनर्नानावेशधारिण्यो व्रतिन्यः। ताभिस्तस्य मार्गमग्नाभिः इति। एवं किम् विशिष्टोऽस्य गुरुरित्यत आह। [निष्केवलं तर्हि।

दिक्खिज्जइ इति। विम्बकं दृश्यते। किन्तत् गुरु—

दक्खिण उद्देसेँ इति। दक्षिणोद्देशमात्रेण स्वार्थहेतुना सत्वान् [25b] क्लेशेषु निपातयन्ति। स्वयमजानताञ्च। किञ्चि(त्) चेतदेवाह।] सर्व्वमीश्वरमिति चेत् न भवति। कथं न भवतीत्याह प्रमाणागमयुक्त्या च। तर्हि इह संक्षेपत उच्यते इह हि सर्व्वं नाम न किञ्चिद्वस्तु अस्ति। कथं तत् यस्मात् पृथिव्यादिधातवः सर्व्वं पिण्डपरमाणवो रूपकायाश्च परमाणवश्च षड्भागभेदेन नोपलभ्यन्ते। तदा वस्तु न वस्तु। कथमीश्वर दूष्यते असिद्धत्वाच्च। व्यापकाभावे व्याप्यस्योपलब्धिर्नास्ति। अथवा कर्त्तृत्वं वदन्ति इति चेत्। तदा उच्यते [26a] तन्न कथं क्रमेण च युगपद्वा न नित्येनार्थः क्रियते।

1. A. **कर्णेहि** A. **जनवन्धो;** A. **खुसखुसाइ** A. अइरिकस्य; 2. A. खुसखुसायति। 3. A. तत्राह, HS. तत्राहं; शृणु च 4. A. **अण्ण** A. रण्डी, 5. A. मासिकोपवासीकी; B. अन्या; A. व्रतिन्यस्तास्तस्य मार्गं सम्मग्ना। 6. A. एवं विशिष्टस्य गुरोरित्यत। [ ] The portion within brackets (lines 6-10) is omitted in A. 8. A. MS. restores this *pāda* as **[दिक्खा देइ] दक्खिण उवेसे।** 11. A. सर्व्वमीश्वरमय[मि]ति चेत् तन्न भवति। A. प्रमाणागमाभ्यां युक्त्या; 12. A. स्फूरति instead of अस्ति। 13. A. रूपकास्य; A. षड्भाग भेदेनोपलभ्यन्ते; 14. A. has च after तदा; A. तेष्य सिद्धत्वाच्च; B. दूष्यतेऽसिद्धत्वाच्च। 15. B. व्यापस्यो°। 16. A. has no च after कथं, B. क्रमेन ;A. युगपद्वाननित्योऽर्थः क्रियते।

तस्मात् नास्त्येव तस्य बहिर्वस्तु अध्यात्मकल्पितं वा। एतदेवाह। शक्तश्चेत् किन्देशकालादिरपेक्ष्येत। तस्मात् युगपत् न स्यात्। किं तत् सृजेत्। असौ अपेक्षतश्चान्यां। वस्तु न नित्यो नापि शक्तिर्भवति। भावस्तु नित्यो नास्ति। कुतः। भावश्च क्षणिक सर्व्वकालतः अन्यच्च विषयविषयिभ्यां नेष्यते। कुतः। यतश्चक्षुभ्यां रूपादीन् दृश्यते। भ्रान्तिमात्रतः। विचारेणापि यत् घटपटादि न दृ[26b]श्यते तत् पूर्व्वाभावात् कथं परमाण्वादि उक्तलक्षणतया विषयीभवति। यथा स्कन्धादीनां लक्षणं न पिण्डपरमाणवो बाह्यकं इति। अथ यदि नीलपीत्याद्याभासस्य ख्यातिस्तदपि न भवति। प्रत्यक्षविरोधेन नात्मनस्तस्य सत्ता नास्ति। तत् कथं चक्षुर्विज्ञानादिषु ग्राह्यग्राहकभावेन प्रवृत्तिः। सति भ्रान्तिमेवेति बालजनैः कल्पितमिदं श्वेतमिदं पीतमित्यादि।

पुनरेवाह—अपीतमपि नाभ्यस्तं गच्छत्यप्ययनं पुनः। तस्य किन्नाम यवधाराबा[27a]हिनी विज्ञप्तिर्न भवति। तदा कथं न विस्मर्य्यते। अन्यच्च वैषम्यशैलजातानामपि महोदधेर्मानात्यन्तं तथा सूक्ष्माणुपरिमाणानां को वा कुर्य्यात् तदकर्म्मकः। करोति वा बलशालित्वादिति चेत्। स एवोन्मत्तवत् भवति। नाशकाले श्रममात्मनः कथं नाशयेदिति। अथवाशक्तमेव क्रियते। अयस्कान्तोपलादीनाञ्च शस्त्राद्याकर्षणं प्रतिनिषिध्यते। तत् पुनर्विज्ञानागमे निषिद्धः। कायानुस्मृत्युपस्था[नाद्यस्था]नत्वात् कायं पुनः [27b] कुत्सितपञ्जरं विचारादवस्तु। एतदाह—

1. A. तर्हि instead of बहि; A. अध्यात्मकल्पित HS -कल्पितं। 2. A. किदेशकालाद्यपेक्ष्येत HS किन्देशकाला°; 3. A. अपेक्षतश्चान्यवस्तून्। A. शक्तिभवति; HS. शक्तिर्भवति। A. भाववस्तु instead of भावस्तु; 4. A. भावः; A. क्षणिकः 5. A. रूपादि दृश्यते। 6. A. पूर्व्वाभात् HS. पूर्व्वाभावात्। 7. A. स्कन्धादीना; HS, °दीनां। A. पिण्डपरमाणुवाह्यकं। A. नीलपीताभ्यां भासस्य ख्याति[:] तदपि—A. भ्रान्तिमात्रमेवेति। 10. A. पीतमिति। 11. A. अधीतमपि; B. न भ्यस्तं; A. गच्छत्यध्ययनं; 13. A. दैषम्य; HS. वैषम्म; A. महोदधेर्नामा°; A. सूक्ष्मानापरिमाणानां; HS. सूक्ष्मानां-; 14. A. वलसाहित्वादिति; A. एवोन्मत्तो भवति; 16. A. वस्त्राद्याकर्म्मण HS. वस्त्राद्याकर्षणं; A. न सिध्यति। 17. The portion within the brackets added in the margin of B.

अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचयेत् ।
अस्थीन्यपि पृथक्कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः ॥
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारितं ।
लालामूत्रपूरीषवाष्परुधिरस्वेदान्त्रमेदोवसा—
पूर्णः कायकलिः सदा व्रणमुखैः प्रस्यन्दते चाशुचि इति ।

तस्मात् न विज्ञानस्य स्थानमस्ति वासनामात्रमेवेति । तच्चाविद्यावशाज्जायते । ततः सर्व्वे दोषाः सम्भवन्ति । तथाचोक्तं—सत्यात्मनि परसंज्ञा स्वपर[28a]विभागात् परिग्रहद्वेषौ—

अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्व्वे दोषाः प्रजायन्ते इति ।

तस्मात् प्रसिद्धं प्रतीत्यसमुत्पादलक्षणमिति । यदि वा अवलम्बते किञ्चित् देवतात्मशरीरं तत्र भवति । कुतः यदीश्वरं नास्ति तया रहितं किमन्यं देवतां साधयति । तन्मयमिति वचनात् । तस्मात् न भवति । अथ युगपदनुभवं साध्यते । तदपि न भवति । पूर्व्वेऽनुमानस्य सत्ताऽसिद्धाः । यदि वा धुनन-कम्पनद्यावेशं कुरुते । तदा कुहिकार सत्यसाक्षात् अनुभवेयुः । निरुपलम्भत्वात् । त[28b]दपि प्रत्यात्मवेदके न भवति । एतदेवाह—

प्रत्यात्मवेदता तस्य कीदृशी नाम कथ्यतां ।
प्रत्यात्मवेद्यं वदतां वस्तुत्वं तस्य चेष्टितं ॥
इदं तदिति तद्वक्तुं तदशक्यमिति चोद्यते ।
स्वनिश्चयं तदन्येषां निश्चयोत्पादनाय तु ॥

1. A. पञ्चरतो ; A. मोचय(येत्) ; B- मोचयये । 2. A. मज्जानमतत: ; HS. °न्ततः । 3. A. विचार्य । 4. A. °वसाः HS. वसा । A. कायकलि A. व्रणमुखे ; 5. A. has no इति after चाशुचि । 6. B. original विज्ञानमस्ति corrected in the margin as विज्ञास्य स्थानमस्ति which is to be restored as विज्ञानस्य—, 7. A. ते । 9. A. प्रजायन्त 10. A. अवलम्बयते । 11. A. दैवता° । A. तया रहितं किमण्यवैव तां साधयति । B. तया रहित किमन्यं देवता साधयति । 12. A. तन्न यतिवचनात् । 13. A. सत्ता निषिद्धा । 17. B. प्रत्यात्मवेद्य । A. चेष्मितं, 18. A. has वस्तुत्व['] instead of तद्वक्तुं A. चोच्यते । 19. A. सनिश्चयवदन्येषां ।

साधवस्तु प्रवर्त्तन्ते नित्यमव्यभिचारिणः ॥
वेदकस्य यद्वेद्यं वेद्याभावे न वेदकः ।
वेद्यवेदकयोरेवं अभावतः किन्तु नेष्यते ॥ इति ।

तस्मात् प्रतीत्यसमुत्पादमेवेति ईश्वराश्रितं निरस्तः । इदानीं क्षपणकानामुच्यते । तत्र **दीहणक्ख जइ** इत्यादि ता[वपर] केवल[29a] **साहइ** इति पर्य्यन्तेन । एवं—

दीहणक्ख जइ मलिणेँ वेसेँ इति । अर्हन्ताश्रित एव देहिनः सर्व्वलोकाः कपटकुहनत्वेन भक्षिताः । मलिनवेशधारिणः स्वयं तत्त्वमजानानाश्च पुनरपि स्वशरीरेषु दुःखदायकाः । तमाह—

णग्गल होइ उपाडिअ केसेँ इति । नग्नेन प्राप्तं केशानामुत्पाटनेन कर्म्मणा न परमार्थः कश्चित् । एवमुक्तेन किं स्यात् ।

खवणेहि जाण विडं[वि]अ वेसेँ इति । क्षपणकेन मार्गविडम्बितं यादृशं तादृशं न भवति । कुतः । नित्यानित्यव्यवहार[29b]त्वात् तन्मार्गमजानानाश्च तेषां यमाश्रयं कुर्व्वन्ति तैः ।

अप्पण वाहिअ मोक्ख उवेसेँ इति । आत्मनो कुकर्म्मकुमार्गेषु वाहित्वं मोक्षोद्देशेन तच्च मोक्षं न सिध्यते । वक्ष्यमाणत्वात्—

जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता इति । यदि नग्नानां भवति मुक्तिस्तदा—**सुनह सिआलह** इति । श्वानशृगालादीनां किं न भवति मुक्तिः । अथ—

2. A. वेदकाश्च यद्वेद्यं HS. वेदकस्य च यद्वेद्यं ; B. वेदकाठदयेद्वेद्यं 3. A. वेद, HS वेद्य । A. अभाव: A. किमु 4. A. ईश्वराश्रित[:] 5. A. **दीहणक्ख** ; A. **साह** इति, 7. A. **दोच्चणखज्जे**, MS. **दीहणक्ख जे** ; B. **दीहणक्खज्जइ** 10. A. **होइअ** । A. **उपाट्टिअ** । 11. B. परमार्थं किञ्चित् । 12. A. **खवन' हि जान**, 13. A. यादृश, HS. यादृशं । A. तन्मार्गमजानतानश्च ते पापमाश्रयं कूर्व्वन्ती ते ; HS. तन्मार्गमजानताश्च— 15. A. **अप्पणु**, A. **उएसेँ**, HS. आत्मम:, A. वाहितं, 16. A. has दृश्यते instead of सिध्यते । 17. A. **णग्ना** A. नग्नाना, HS नग्नानां, 18. A. **शुनह**, A. **थिआलह**, A. श्वश्रृगाला° 19. A. मुक्ति, HS. मुक्तिः ।

लोमुपाड़णेँ अत्थि सिद्धि ता इति। लोमोत्पाटितेन सिद्धिरस्ति यदि तदा—**जुवइ णिअम्वह** इति। [30ᵃ⁻ᵇ] युवतिस्त्रीणां नित्यरोमोत्पाटनकर्म्म। तासां नितम्बस्य किन्न मुक्तिः स्यात्। अथवा—

पिच्छीगहणे दिट्ठ मोक्ख इति। क्षपणकेन मयुरपिच्छिकाग्रहणेन यदि मोक्षो दृष्टः—**ता करिह तुरङ्गह** इति। तदा हस्त्यश्वानां गूढ़पक्षरेषु मयूरपिच्छिकाभरणमालया मोक्षः भवति। न भवतीति यावत्। अन्यच्च—

उच्छेँ भोअणेँ होइ जाण इति। उच्छितभोजनेन यदि भवति ज्ञानं **ता करिह** इत्यादि पूर्व्ववत् एव—

सरह भणइ खवणाण मोक्ख मह्‌ु किम्पि ण भावइ इति। सरोरुहवज्रपादेनोक्तं क्षपणकानां यन्मोक्षं तन्मम किञ्चिन्मात्रं न प्रतिभासते। कुत इति चेत् आह—

तत्तरहिअ काआ ण ताव पर केवल साह[इ] इति। तत्त्वरहितं किमन्यत् तावत् आत्मनाऽज्ञानता परेऽपि लोकाः केवलमनर्थैकपाते। यदा तेषां सिद्धान्तः यज्जीजनिकायादिलक्षणमनित्यं पुनरपि यत्तेषां वचनमस्ति तत् वनस्पतीनां जीवमिति। तन्न भवति कस्मान्न भवति इत्याह। स्कन्धादीनां विनाशो भवति यदा तदाऽनित्य एवमेको जीवमिकायः द्वितीय वनस्पतयः तृणवनकानना[31ᵃ]दि।

---

1. A. **त,** HS. **ता।** A. लोमोत्पाटनेन। 2. A. यदा। A. **णित्यम्वह।**
Folio 30ᵃ⁻ᵇ is missing in B.

4. A. **दिट्ठि** MS. corrects as **दिठ्‌ठ।** 5. **करिह तुरङ्गह** can not be taken as the last part of the *pāda*. MS. reconstructs from Tib. **मोरह चमरह।** 7. A. **उवेभँ** MS. corrects as **उच्छ।** 8. **करिअ** should **करिह।** HS. takes एव as a part of the dohā through mistake. 9. A. **खवनान** should be **खवणाण।** A. **मोच्च** MS corrects as **मोक्ख,** 12. **साह** should be restored as **साहइ।**

तृतीयं पृथिव्यादि चतुर्धातवश्च। एवं षड्‌जीवनिकायाः। एतत् सर्व्वं न भवति। कुतः। यतः सर्व्वं जड़धातवः। तेषां कुत्र जीवमुपलभ्यते। न लभ्यते इति यावत्। अथ पुरुषायत्तं जीवं। तत् पूर्व्वं ईश्वरनिराकरणे निरस्तं। एतदुक्तेन किं स्यात्। सर्व्वमेवानित्यरूपं स्यात्। कथं तर्हि प्रतीत्यसमुत्पन्नत्वं। प्रतीत्यसमुत्पादश्च भ्रान्तिरूपं। लोकस्य स्थिरत्वाभावात्।

इहलोकं विहाय स्वर्गादिगमनं करोति। बौधानामपि तादृशमिह जन्मना सत्त्वार्थं कृत्वा [31ᵇ] तदा स्कन्धपरिणामेन अन्यलोकं गत्वा सत्त्वार्थं निष्पाद्य पुनरपि तत्परित्यागात् स्कन्धादिग्रहणं कुर्व्वन्ति इति। सर्व्वकालतः अलातचक्रवत्। [पूर्व्वकरुणा प्रणिधानाच्च। किन्तु विशेष … … म्मायावत् न सत्यं न मृषा च लोकरूप्या पुन नित्यरूपमिति सिद्धं। नार्हन्तवत्।] किन्तु तेषां नित्यरूपमोक्षं तन्न भवति। कुतः यतस्तेषां वचनं त्रैधातुधातुकस्योपरि छत्राकारं मोक्षं। तच्च षड़शीतिसहस्रयोजनानां प्रमाणं। एतदेव न सिध्यति। यतः त्रैधातुकस्य विना[32ᵃ]शोऽस्ति छत्रं कुत्र स्थाने तिष्ठति। तस्मात् मोक्षनित्यरूपं न भवति। अनित्यमेवेति स्यात्। इति संक्षेपतः विस्तरेणान्यत्रावसेयं।

इदानीं श्रमणानामुच्यते। तत्र **चेल्लू** इत्यादि **नउ परमत्थ एक्क तेँ साहिउ** पर्य्यन्तं।

चेल्लू भिक्खु जे त्थविर उद्देसेँ।
वन्देहिँ अ [पव्वज्जिउ] वेसेँ॥ इति।

---

1. A. °निकायास्तु। 2. A. कुतो instead of कुत्र। 4. A. कि ; HS. किं। A. कथ, HS. कथं। A. तर्हि समुत्पन्नत्वं। 5. A. प्रतीत्यसमुत्पादश्च। A. B. भ्रान्तिरूपं। B. लोकस्य। A. स्वर्गादिगमन- HS. °गमनं। A. बौधानामिति। 6. A. जन्मनि 8. B. कुर्व्वन्ति इति broken in B. B. अलात्‌चक्रवत्. 9-10. The portion within brackets is omitted in A. 11. A. नित्यरूपं मोक्षं। A. यतस्तेषा, HS. °स्तेषां। 13. A. मोक्षनित्यभूयं। 14. B. विस्तरेणान्यत्रावशेषं।
15. B. इदानी श्रवणा°। A. **वेलु।** A. **परमच्छ एक ते षाहिउ।** 16. A. पर्यन्ते। A. **वेल्लू।** 17. A. **भिक्ख।** A. **थविर, उएसे** MS. restores: **थविरउ वेसेँ।** 18. A. **वन्देहि अ यज्जइ उएसेँ।** In B the portion **—अ यज्जइ** is broken ; MS. corrects A: **वन्देहि अ पव्वज्जिउ एसेँ।** A has no इति।

चेल्लः दशशिक्षापदी। भिक्षु कोटिशिक्षापदी। स्थविरो यो दशवर्षोपपन्नः। ते सर्व्वे काषायधरवस्त्ररूपमात्रं प्रव्रज्यां गृह्णन्ति। तेन देशनभिक्षणशीलत्व-क्षमान्नाचरन्ति। [32ᵇ] न तत्त्वतः तत्त्वम् जानन्ति। शठकपटरूपेन सत्त्वान् विहेठयन्ति। यदुक्तं भगवता पश्चिमे काले पश्चिमे समये मयि परिनिर्वृते पञ्चकषायकाले च ये भिक्षवः मम शासने भविष्यन्ति। ते सर्व्वे शठकपटरता भविष्यन्ति। तथा गृहारम्भे सति कृषिवाणिज्यादिरताः सर्व्वपापकर्म्माणि करिष्यन्ति। शासने विडम्बकाः यत् पूर्व्वं मारकायिकाः तत् सर्व्वं ते श्रमणरूपेणावतरिष्यन्ति। तत्र मध्ये संघस्थविरास्ते सांघिकोपभोगं हरिष्यन्ति इत्यादि विस्तरः। न तेषां [33ᵃ] बोधिस्तत् कथं। ये श्रावकयानमाश्रितास्तेषां उक्तलक्षणेन भङ्गः। भङ्गात् पुनर्नरकं यान्ति। अथ शिक्षारक्षणमात्रेण विनयोक्तलक्षणायाः स्वर्गोपभोगमात्रं भवति। न पुनर्बोधिरुत्तमा कुतः यदा स्थविरार्य्यानन्दः परिनिर्वृतस्तदा तेन न कस्यचित् समर्पितं। श्रावकबोधिरुपदेशं स स्यात्।

अथ महायानमाश्रयन्ति। तत्रापि निश्चयं न भवति। कुतः यतः पूर्व्वमार-कायिकत्वात्। यदि वा सुस्थितं तदपि अनिश्चितं एतदेवाह—

कोइ सुतण्त वक्खाण वइट्ठो- इ [33ᵇ] ति। क्वचित् भिक्षुः तत्त्वव्याख्यानं करोति। पूर्व्वेणाश्रुततया स पुनर्नरकादिगमनं करोति—द्रव्यादि-लोभेन च।

1. A, वेल्ल [:] दशशिष [:] यदा। A. कोटिशिष्या यदा। A. यो दशवर्षोपसयनः। 2. B. कार्षायधरवस्त्र्य' (?)। B. रूपमात्रां (?)। A. तेनोदेशनभिक्षणशील क्षमा [:] चरन्ति। B. तेन देशनभिक्षण शीलत्वक्ष……न्ति। 3. A. तथ। B. तत्त्वतः। 5. A. भिक्षवो। 6. A. कृषिवाणिज्यरता। 7. A. शासनविड़म्बकाः। A. ये B. यत्। A. सर्व्वं। B. तत् सर्व्वे ते। 8. A. °भोग HS. भोगं 11. A. यतः for यदा। 12. A. समर्पितः। A. श्रावके बोधिरुपदेश स्यात्। 16. A. **स्वतन्त्त,** MS. **सुतन्त।** A. **वोइट्ठो।** B. **वइ[ट्ठं],** the last letter is broken.

कोवि चिण्ते कर सोसइ दिट्ठो इति क्वचित् वै चित्ता सर्व्वधर्म्मा क्रियते वदन्ति पुनः आगमपुस्तकाक्षरविचिन्तमान तत्साधनं करोति दूष्यन् तत्। पाठानवबोधात् अपायगतिं यास्यति। एवं चिन्तयापि चित्तशोषं च करोति। ते रोगा बभूवुः।

अस तहि महजाणहिँ धा[इ]—[34ᵃ⁻ᵇ] * * *

[35ᵃ]-गांगमिष्यन्ति। भ्रान्त्या च तेन भ्रान्त्या अपायगमनं करोति। तस्मात् भ्रान्ति·र्नाम विकल्पः। [भ्रान्ति]वर्जनात् मुक्तिः। एवं—

णउ परमत्थ एक्क तेँ साहिउ इति। तेन श्रमणादिना युक्त्या विचार्य्यमानेन श्रावकादि परमार्थमेकं साधितं। निष्केवलं व्रतचर्य्यादिना जीविकाहेतुना प्रवृत्तिरिति। तत्र समुदायार्थमाह—

जो जसु जेण होइ संत्तुट्ठो।

मोक्ख कि लब्भइ ज्झाण[प]विट्ठो इति—यो येन दृष्टेन भवति सन्तुष्टं तस्य मार्गमात्रं श्रावकयानादि भगवता सन्दर्शितं [35ᵇ] तत्र यानेषु प्रविष्टा मोक्षं लभन्ति। वाच्यवाचकलक्षणो न भवतीति यावत्। स …… क्रियते। तावत् दुष्प्राप्यमिति। एवं तत्त्वरहितया तीर्थिकादिना च समुदायेनाह—

किन्तह दीवेँ किन्तह णिवेज्जँ इत्यादि। किन्दर्शनेन किन्तत् नमस्कारेण।

किन्तह किज्जइ मन्तह सेव्वँ। किन्तेन कर्त्तव्यं मन्त्रसेवनया। अथवा किं प्रदीपेन किं नैवेद्येन [ज्ञा]न-रहिततया न किञ्चित् कार्य्यमस्ति। तथा—

1. A. **को विचित्तेँ** A.B. **कर सोसइ** MS. **करइ सोस।** A. क्वचित् चित्रा['] सर्व्वधर्म्माणा['] करोति। 2. A. °पुस्तकाक्षरा विचिन्तेन। A. तत् शोधनं A. रुच्यं for दूष्यन् 3. A. चित्त सोषं। HS. चित्त शोषं। 4. B. ते रोगा। 5. A. **असोत** *** 34ᵃ⁻ᵇ of B. is missing. The portion (p. 65, l. 5—p. 66, l. 15) from **अस** to सहजमेवेति is missing in A. 8. B. **लउ** (?) for **णउ** B. **एकन्तँ** for **एक्क तेँ** MS. restores the preceding line as: **सहज छड्डि जेँ निव्वाण भाविउ।**

किन्तह तित्थ तपोवण जाइ इति। किं तत्र तीर्थं ... [36a] स्यादि। किन्तेन तपोवने गमनया।

मोक्ख कि लब्भइ पाणी ह्राइ इति। अनेनोक्तेन तीर्थाश्रये[न] पानीयस्नानपवित्रेण किं मोक्खो लभ्यते। न लभ्यते इति यावत्।

च्छडुहुरे आलीकावन्धा इति। हेयपुरुषा मिथ्याबन्धनं कल्याणमित्रोक्तं तीर्थादिकं त्यजेथ। येन नरकादिं यास्यथ। लोकायमतादिनाच्च। नास्ति दत्तं नास्ति हुतं न सन्ति श्रमणाः नास्ति ब्राह्मणाः। नास्ति [प]रलोकः। यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् तावत् मृत्योरगोचरः। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरा[ग]मनं [36b] [कुतः] इति। उच्छेददृष्टित्वाच्च। अथवा सांख्या[:] वदन्ति। सांख्या प्रधानमिच्छन्ति नित्यं लोकस्य कारणेत्यादिना शाश्वतः। तेन किं क्रियते न कल्याणमिति चेत्।

सो मुञ्चहु जो अच्छहु धन्धा इत्यादि। समुदायार्थेन विशिष्टचर्य्यां सूचयन्नाह। सन्मार्गेषु अधिमोक्षं कुरु। येन कृते सति स्वार्थं करिष्यसि। अयुक्तमार्गं मुञ्चसि त्यज—येन धन्धतायां स्थितिर्न करिष्यसि। सन्मार्गेण निर्द्वन्द्वं यास्यसि। सहजमेवेति नान्यः। एवं—

तसु परिआणेँ अस ण कोइ इति। तस्य स[37a]हजस्य परिज्ञाने अन्यं मोक्षं न किञ्चिदस्ति।

अवरेँ गणेँ सव्व वि सोइ ॥ अन्यैः सर्व्वैर्मोक्षसमूहं यत् परिकल्पितं पृथक् पृथक् तत् सर्व्वं सहजमेवेति नान्यत्। किन्तत् सहजमजानानाश्च भ्रमन्ति संसारे घटीयन्त्रवत्। स च सद्गुरु पर्य्युपास्तितेनोपलभ्यते। तत्र सहजे वाच्यवाचकौ न लभ्यते।

15. A. नान्य। 16. A. has no इति after the *pāda*. 18. A. **अवरे अणे सज्जइ सोइ,** MS. **अवचेअणे सव्वोइ सोइ**—19. A. सर्व्वं सहजे— A. सहजमजानन्तो। 20. A. संशरे, HS. संसारे। 21. A. लभ्येते।

वाच्यवाचकसम्वन्धात् न विद्येत् सहजं त्रिषु।
देशनापदयोगेन ख्यापितं भगवता क्वचित् ॥
पुस्तके दृश्यमाने च सत्वा।र्थाय न संविदात्।
यत् यत् द्रक्ष्यति वस्तुश्च भ्रान्तिरूपादिकल्पना।
तत्तद्वस्तु न दृश्येत अभ्रा[37b]न्तं गुरुपर्व्वया ॥ इति तस्मात्—

सोवि पढ़िज्जइ इत्यादि। पाठस्वाध्यायादि यत्किञ्चित् क्रियते लोकोत्तरं सहजमयं यान्ति। न केवलं लोकोत्तरं लौकिकमप्याह —

सत्थ पुराणेँ [वक्खाणिज्जइ] इति। यत्किञ्चित् शास्त्रपुराणादि-व्याख्यानं क्रियते तत् सर्व्वं सहजस्यैव नान्यस्य। तदाह—

णाहि मो दिट्ठि जो ताउ ण लक्खइ इति। एवं सहजोक्तक्रमात् यावत् पुरुषेन लक्षितं तावत्तेन मोक्षं न दृष्टं। येन क्लेशक्षयं तत्क्षणात् करोति। कथं दृश्यतेत्याह—

एक्केँ वर इत्यादि। एते[38a]न निस्केवलेन वरप्रवरगुरुपादापेक्षितेन लक्ष्यते। एवं स्पष्टार्थमाह—

जइ गुरु वुत्तउ हिअइ पइसइ इति। यत् गुरूक्तमार्गं हृदयगतं भवति। तदा—

1. A. °सम्बन्धा न सन्ति सहजे त्रयः। 2. A. भगवान्। 3. B. दृष्टमाने; 4. A. संविधात्। 4. A. यद्द्रक्षति for यत् यत्°। A. वस्तुसंज्ञा for वस्तुश्च। 6. A. **पत्निज सोवि**— MS. supplies the second part of the pāda: **सोवि गुणिज्जइ**। 8. A. **गच्छ** for **सत्थ**। B. **वक्खाणिज्जइ** indistinct. 10. A. **दिठ्ठि** MS. **दिट्ठि**। A. **लक्खाइ**। 11. A. पुरुषे न- HS. पुरुषेण न।
14. MS. restores the whole *pāda* as **एक्कु पर गुरुपाआ पेक्खइ**। 14. A. एव HS. ०६ B. प्रष्टार्थम्— 15. A. **गुरुवुत्तवो।** **हिअहि पइसइ** A. गुरूक्त-मार्ग— B. गुरोक्तमार्गं। A. हृदयगतं HS. हृदयगत।

णिच्चिअ हत्थेठ विअ एद्दीसइ। यथा क्वचित् पुरुषेण चिन्तामणिं प्राप्यते तदा निश्चितं तदुद्देशेन दानादि क्रियते। तेनेहापि सहजस्वरूपे प्राप्ते सति चिन्तामणिवत् सर्व्वसत्त्वान् तन्मयं करोति। सर्व्वस्वं द्रविणादि त्याज्यं करोति। ईदृशं मार्गमजाननात्। ग्रन्थकारः **सरह** इत्यादिना परिदेवनां करो[38^b]ति।

जग वाहिअ आलेँ इति। सर्व्वं जगत् आलेन तीर्थिकादिना बाहितमिति।

णिअ सहाव णउ लक्खिउ वालेँ इति। तैर्बालजातीयै र्निजस्वरूपं सहजभावमिदं न लक्षितं। न सद्गुरवः आराधिताः। तदा ते षड्गत्यादिदुःखमनुभवन्ति। एतदेव न केवलं तीर्थिकस्य श्रमणेषु आह।१९

झाणहीण पव्वजेँ रहिअउ इति। यदा तेन श्रमणेन सम्यग्ध्यानहीनेन प्रव्रज्यागृहीतविनयादिलक्षणं शिक्षारक्षणं कृतं वा तेषां फलं न भव[39^a]ति।

कुत आह—**घरहि वसन्तेँ भज्जे सहिअउ।** यदा गृहारम्भादि आश्रमं न करोति तदा व्रतभङ्गस्तेन सर्व्वञ्च चर्य्यादीनां भङ्गः। एक प्रतिज्ञाभङ्गेन च सर्व्वेषां भङ्गः। यथा एकेन पुरुषेण विषभक्षणेन सर्व्वेषु जन्तु[षु] भङ्गं जायते। तच्च एके म्रियमाणे सर्व्वेषां न भक्षितेऽपि विषमरणभयं जायते। तदा यत्किञ्चित्

1. A. **णिच्छिअ।** A. **हत्थेठ,** Ms. reconstructs the whole *pāda*: **णिहिअ हत्थहिअ विअ उ दीसइ,** A. चिन्तामणिः। 2. A. तदुद्देशे। 4. A. ईदृशस्य मार्गस्याज्ञानात्: MS. restores the word after **सरह** as **भणइ।** 7. B. वाहित इति। 8. A. **लक्खिउ** A. निजरूपं। 9. A. सद्गुरु। B. has तदाषाड्गत्यादि for तदाते षड्गत्यादि— The number 19 refers to the stanza following.

11. A. **माणहीण।** A. **पव्वज्जे।** A. विनयादिलक्षण— 14. A. **वसन्ते।** 15. B. आश्रयणाष्करोति। B. सर्व्वश्चचर्य्यादीना। 16. A. विषभक्षितेन। 17. A. तस्मिन्नेके

भक्षितं तत् सर्व्वं सुपरीक्षितेन भक्षणं करोति। विषतत्त्वं वा अभ्यस्यति। तत्त्वा[दा]वेव सुनिश्चिततया नो चेत् भङ्गः जायते। एवं यत्किञ्चित् व्रतचर्य्यादि गृह्यते तत् [39^b] सर्व्वं दृढ़प्रतिज्ञायेति। तस्य च—

जइ भिड़ि विसअ रमन्त ण मुच्चइ।

यदि च दृढ़विषयसेवारतिं न त्यजति। तदा ग्रन्थकारेण—

परिआण कि मुच्चइ इति। तदा अन्यपरिज्ञानेन किमुक्तेन क्षणिकसुखात्यागात्। येन दुःखमनुभवन्ति। अथ विषयसेवापञ्चकामादिना न मुच्यन्ते सति परिज्ञाने। तदा अन्ये शुष्कपरिज्ञाने वाच्ये उक्ते किं न मुच्यते इति यावत्।

जइ पच्चक्ख कि झाणेँ कीअअ।
जइ परोक्ख अन्धार म धीअअ॥

यदि प्रत्यक्षं तदा ध्यानेन किं क्रिय[40^a]ते। यदा इदं परोक्षं न दृष्टं अन्धकारमध्ये किं दृश्यते। अनेन किमुक्तं स्यात्। सर्व्वाणि प्रव्रज्यादीनि व्रतानि किं क्रियन्ते। अन्धकारमध्ये च परलोकफलं अदृष्टत्वात्। अनुमानहेतुना च। किं तत् प्रत्यक्षं ज्ञानमाह—**सरहेँ** इत्यादि। **कड्ढिउ राव।** गुप्तं न कृतं सर्व्वलोकेषु मयातिव्यक्तेन महानादोच्चारितं। किं तत्। **सहज सहाव ण भावाभाव** इति। अत्र भावश्चक्षुराद्यालोकेन यद्वस्तु मनः परिकल्पनया च। तत्र कुतः। यतः सर्व्वं सहजस्वभावेन वस्तु विश्वमुत्पादितं [40^b] तदेवम्भूतपरिकल्पनया मुच्यते। तथा चोक्तं—

1. B. अभ्यस्यन्ते। 2. B. सुनिश्चितं तया। A. भङ्ग। 3. A. B. **विषय रमन्तन—** A. **उच्चइ।** 6. MS. restores the first part of the *pāda* as **सरह भणइ।** A. अन्यपरिज्ञाने। 8. A. अन्येन सुस्थ परिज्ञानेन। A. मुच्यते। 10. A. **पच्चक्ख झाणेँ कि कीय.** MS.—**झाणेँ कि कीअइ।** 11. A. **मुत्त्वा रम वीअअ** MS. **अन्धार मवीअइ।** 12. A. ज्ञानेन for ध्यानेन। 13. A. has no किं after व्रतानि। 14. A. °फलस्य 15. A. has **सरहे।** MS. restores the word after **सरहेँ** as **नित्त।** A. **कढ़िउ** for **कड्ढिउ।** 17. A. °चक्षुरादि। B. °लोकेनं (?)

नापनेयमतः किञ्चित् प्रक्षेप्तव्यं न किञ्चन ।
द्रष्टव्यं भूततो भूतं भूतदर्शी विमुच्यते । इति ।

तत् कथं युक्तिराह । इदं तद्विपदाः सुखेनोत्पन्नाः । सुखमिच्छन्तश्च मातृपितृ-संयोगाज्जायन्ते । तत् प्रत्यात्मवेद्यतया नाभावः । कुतः तन्मयत्वेनावाच्यत्वात् च । सैव मरणान्तिकं सुखमिति भावः । अतएव—

जल्लइ मरइ उवज्जइ वज्झइ
तल्लइ परम महासुह सिज्झइ ॥ इति

येन सुखेन म्रियन्ते तेनैवोत्पद्यन्ते उत्प[41a]न्नाश्च तस्मिन्नेव बध्यन्ते । प्राकृत[सुख] कल्पनया च । स च तेनैव सम्यक् गुरु[पदेशं] परिज्ञाय गृहीत्वा परममहासुखं सिध्यतीति भावः । एवं सरह इत्यादि सुबोधं । अस्य प्रति-निर्देशमाह—

झाणरहिअ कि कीअइ झाणेँ ।
जो अवाअ तहिँ काहि वखाणेँ ॥ इति ।

अत्र प्रथमं तावज्ज्ञानं वाच्यवाचकलक्षणादिरहितं । तत् किमिदं सहजं ज्ञानं कल्पिततया किं क्रियते । हेतुरहितत्वेन फलव्यवस्था नास्ति । तस्मात् यदवाच्यं तत्र किं व्याख्यानं क्रियत इति यावत् । तथाचोक्तं—

---

1. A. नापमेयं च यत् । B. प्रक्षेप्त' न (?) 2. B. भूततोभूं ं । B. वमुच्यत । 3. A. तदा तद्विपदादायः । B. सुखमिच्छता च । A. मातापितृ- । 4. B. जायते । A. न भावः । A. has no of after वाच्यत्वात् ।

6. A. has no वज्झइ after उवज्जइ । 9. B. omits सुख after प्राकृत and उपदेशं after गुरु । MS. restores the last two *pādas* as :

सरहेँ गहण गुहिर भास कहिअ ।
पसुलोअ निव्वोह जिम रहिअ ॥

13. A. अवाच for अवाअ । A. काइ for काहि । A. वक्खाणेँ । 15. A. हेतु-रहितेन । B. यस्मात् for तस्मात् ।

इति तावत् मृषा सर्व्वं [यावद्] [41b] यावद्विकल्प्यते ।
तत् सत्यं [तत्] तथाभूतं तत्त्वं यन्न विकल्प्यते ॥ इति

किन्तद् भवतीति पुनरप्याह—

रूपमस्य मतं स्वच्छं निराकारं निरञ्जनं ।
शक्यञ्च नहि तज्ज्ञातुमबुद्धेषु कथञ्चन ॥
बुद्धोऽपि न तथा वेत्ति यथायमितरो जनः ।
प्रतीत्य तां तु तस्यैव तां जानाति स एव हि ॥ इति

तस्मादज्ञानवृते न लक्षितं तत्त्वं । किमज्ञानमेतदित्याह—

भव मुद्दे सअल हि जग वाहिउ
णिअ सहाव णउ केणवि साहिउ ॥ इति ॥

भवमुद्रया सकल जगद्वाहितं । भवमुद्राङ्केनाकल्मषहृदया सत्त्ववञ्चिका [42a] च । तया जगद्दासोकृतं यदिच्छति प्राणातिपातादि तत् सर्व्वं कामलोभेन कारयति । तया च कृतमुन्मत्तवत् । तस्मात् निजस्वभावं सम्यक्तत्त्वं न केनचित् साधितं भवति । अन्यच्च मन्त्रतन्त्रादिदेशनया द्रव्यलोभेन जगन्मोहितं । तमाह—

मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण इति । एतेन ग्रन्थकारेण करुणाव-शादुक्तं मन्त्रतन्त्रेण रहिततया मोक्षं न लभ्यते । तैः

सव्ववि रे वढ़ विब्भमकारण ॥ इति हे मूढ़ सर्व्वभवेषु विभव-कारणं सम्पत्तिकारणं—विभ्रमं । येन भ्रान्त्या दुःखमनुभवन्ति [42b] तस्मात् ।

---

1. A. मृषावचन HS. मृषावाक्यं for मृषा सर्व्वं । B. omits one यावत् । 2. B. तत् effaced in B. B. तत्त्व । A. विकल्प्यत । 4. A. शश्वत् for स्वच्छं । 5. A. ज्ञातुमद्धेन । 6. A. नरः for जनः । 7. B. प्रतीत ।

8. A. तस्मादज्ञानहतेन । 9. A. मुद्दे । A. no हि after सअल, 10. A. केण विगाहिउ । 11. B. जगवाहितं । B. मुद्राङ्केन— A. no च after सत्ववञ्चिका ।

13. A. निजस्वभाव-सम्यक्तत्त्वं । 16. A. no इति after धारण । 18. MS. corrects वट as वढ़ । A. विब्भमकरणँ, 19. A. विभ्रमः ।

असमल चित्त म झाणेँ खरड़ह इति निर्म्मलचित्तं मा अज्ञानेन तोवच्छीकुरु। कथं तन्निर्म्मलमुच्यते। चित्तसंज्ञा द्विविधा लौकिकी लोकोत्तरा च। यल्लौकिकं तद्विकल्पलक्षणं पूर्व्वं निराकृतं। यल्लोकोत्तरं निर्म्मलं धर्म्मकाय-लक्षणं सहजस्वरूपं वा। अतएव आह—

सुह अच्छन्त म अप्पणु झगड़ह इति।

एतेन निर्व्विकल्पसुखरूपं सर्व्वं त्रैधातुकं व्यवस्थितं। तदा न पृथक्त्वेनात्मनो पराभवो कुरु। तदा सुखमयत्वेन दृढं कुरु। किं तदाह—

खाअन्तेँ इत्यादि च [43a] **उभअ लोअह** पर्य्यन्तमिति। एतेन च सप्रपञ्चचर्य्यापि सूचिता भवति यदा इन्द्रभूतिपादेन कृता। खाने पाने न पञ्चकामोपभोगेषु सुरतक्रीड़ा। पुनरपि पद्मभाजनादिना गृहीत्वा बलिं दास्यति। महाचक्रदेवतारूपेण स्थास्यति। एतेन भव्यलोकानां ज्ञानसिद्धिर्महामुद्रा-सिद्धिर्भविष्यति। तैश्च तीर्थिकादीनां। बहुभयभवलोको मस्तकेषु पादन्यासं करोति। वैनेयं करोति। एतेन महामुद्रा या साध्यते तस्याः किमुद्देश-मित्याह—

---

1. A. **झाणइ खरतह** MS. **झाणहि खरड़ह**। 2. A. गवच्छीकुरु। 3. A. पूर्व्वँ। 4. A. सहजस्वरूपत्वा[त्]।

5. A. **अप्पयणु** MS. **अप्पणु**। 6. A. **जगतह** MS. **जगड़ह**। A. no इति at the end of the pāda. A. सुखस्वरूपं। A. त्रैधातुक—

8. A. **खायत्तेँ**। A. **भअ**; B. **उभूअ** (?)। MS. restores the whole stanza as:

खायन्ते [पिवन्तेँ सुह रमन्तेँ
निन्त पुणु पुणु चक्क वि भरन्तेँ
अइस धम्मेँ सिज्झइ परलोअह
नाह पाएँ दलिअ] भअ लोअह।

10. A. पञ्चकामोपभोगसुरतक्रीड़ा। 11. A. has च after एतेन। 13. A. has no या after महामुद्रा।

जहि मण पवण ण सञ्चरइ रवि ससि णा[43b]ह पवेस।
तहि वढ़ चित्त विसाम करु सरहेँ कहिअ उएस। इति

यत्र सर्व्वजन्तुषु स्वरूपं स्वसंवेदनतया गुरोरादेशात्। नैस्थितेष्वपि चित्त-विश्रामं कुरु यत्र महत्त्वं प्राप्स्यति। तस्मिन् स्थाने मनसः पवनस्य च सञ्चारो न भवति। तत्रैव रविशशिनोः प्रवेशनिष्काशौ न स्तः। नतु कल्पनामात्रं तत् तु सर्व्वं निरुद्धा भवन्ति। यथा बालैः सन्धाभाषमजानद्भिर्मनपवनादि-निरोधमाश्रयः कल्पितः तत्र कथमिहोच्यते। निरोधो नाम निषेधवाचो। किन्तेन कष्टचर्य्यया। यावच्छरीरं वायूादि [44a] वाहनं भवति तावत् वायुनिरोधेन शरीरं निरोध्यते म्रियते वा। तस्मात् सद्गुरूपदेशात् बोद्धव्यं। सरहेत्यादि सुबोधं। किन्तु पवनरूपं बोधिचित्तं। तदास्तृतं मनः सुखरूपं एवं रविशशि-रागविरागोऽनयोः कल्पितसहजा यत्र न भवति ग्राह्यः एवमुपदेशे प्राप्ते सति।

एक्कु करु इत्यादि **फुड़ पुच्छहि गुरु पावा** इति पर्य्यन्तं सुबोधं।

---

1. A. **मन, पवन, न, शसि, नाह, पवेश,** MS. **नाहि** for **नाह**। 2. A. **सरहे,** A. **उवेश,** B. **उएश**। The verse is quoted also in the commentary of the Caryās, HS. p. 15. 3. A. स्वरूप— A. चित्तविश्रावं। 4. A. पवनस्य सञ्चारो। 5. A. रविशशि। A. has **नाह पवेस** इति after रविशशि। A. कल्पनामात्र सर्व्वं। 6. A. सम्ध्याभाष- 7. A. निरोधाश्रयः। 8. A. वार्यादिवाहनं HS. वायूादिवाहनं। 9. A. तस्मात् गुरूपदेशात्। 11. A. रागविरागेण यो HS. विरागेण यः। A. कल्पित सहजः स यत्र। B. कल्पितसहज जायच। A. न भवति स ग्राह्यः। 12. A. **फुत** for **फुड़**। A. has **याव** after **गुरुपाव** which seems to be a repetition of the mis-reading of **पावा**। Four stanzas are omitted here which MS. reconstructs:

एक्कु करु[रे मा करु वेन्नि जाने न करह विस।
एहु तिहुअण सअल महाराएँ एक्कु करु वस॥
तहिँ आइ न मज्झ न अन्त नउ भव नउ निव्वाण।
एहु रे परम महासुहे नउ पर नउ अप्पाण]॥
अग्गेँ पच्छेँ [दह दिहहि जो जो दीसइ तत्त सोइ।
अज्जहि तइसो भन्ति मुक्क एव्वे मा पुच्छ कोइ]॥
इन्दिअ जत्थु विलीअ गउ [तुट्टिअउ णिअ सहाव।
तत्थु रे सहि सहज काअ] फुड़ पुच्छहि गुरुपाव॥

किन्तु सर्व्वमुपदेशैर्व्याप्तं। तेन तत् कुर्य्यात् सर्व्वं तन्मयितिभावः। यदि भ्रान्तिमस्ति कदाचित् तदा पुनरपि [44b] गुरूपादस्यान्तिकं स्फुटतरत्वेन पृच्छां कुरु येन निर्भ्रान्तो भविष्यसि। तदा तेनापि स उपदेशो दीयते। तमाह **जहि मण** इत्यादि।

जहि मण मरइ पवण हो क्खअ जाइ। इति यत्र हि मनो म्रियते पवनश्च क्षयं याति। न केवलं तद्द्वयं अन्यच्च।

एहु से परममहासुह रहिअ कहिम्पि ण जाइ। इतीदं वचनात् साधितं। परममहासुखसमापत्या येन प्राप्तश्च। तदपि रहितं सम्यक् गुरूपदेशं विना। [45a]वाच्यवाचकाभावं तस्य कथं तत्वेपि न किञ्चिद्भवति। किन्तु **रहिअ** इति न स्थितं। **कहिम्पि ण जाइ** न गतं क्वचित्। वचनं वचनगम्यं न भवतीतिभावः। <u>तथाचोक्तं</u>—

बुद्धेरगोचरतया न गिरां प्रचारोद्गारे गुरुप्रथित वस्तु कथावतारः।
तत्तु क्रमेण करुणादिगुणावदाते श्रद्धावतां हृदि पदं स्वयमादधाति॥

अत्रैव—**सअसम्वित्ति म करहु रे धन्धा**
भावाभाव सुगति रे वन्धा॥ इति।

1. B. उपदेशैर्व्याप्त'। A. भ्रान्तिरस्ति। 2. A. omits कदाचित्। A. °अन्तिके। 3. A. निभ्रान्ता HS. निभ्रान्तो। A. भविष्यति HS. भविष्यसि। A. तेनाप्ययमुपदेशो HS. तेनाप्ययमुप°। A. **मन**; 5. A. अत्र for यत्र।

7. A. B. apparently takes this to be the second pāda of the verse beginning with **जहिमण मरइ** etc. MS. shows from Tib. that this should form a second verse which he reconstructs as:

एहु से परम महासुह रहिअ
[सरहेँ कहिअउ] कहिम्पिण जाइ।

9. A. गुरूपदेशं यदि करिष्यसि for गुरूपदेशं विना। B. वाच्यवाचकाभाव। 10. B. **कहिपि** A. **न** A. न गमनं for न गतं। 11. A. तथाचोक्त। 12. A. प्रचारोद्गार HS. प्रचारोद्गारौ। 13. A. श्रद्धावता; HS. श्रद्धावती। 14. A. **सइ सम्विति।** 15. A. **सुगतिरिव,** MS. **सुगतिचेव।**

स्वसंवित्तिमनादिकल्पनया सुखं मा करिष्यसि। यदि करिष्यसि धन्धतां यास्यसि। तस्माद् भावं वा उक्तलक्षणं अभावं वापि सुगति[45b]र्वा विकल्पितं हे मूढ़ सर्व्वं तत् बुद्धत्वं न सम्भवति। नास्तिसुवर्णलोहनिगड़योर्भेदः तस्मात् त्याज्यमेवेति। <u>तथाचोक्तं</u>—

परमार्थविकल्पेऽपि नावलोयेत पण्डितः।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभेवाप्य शुभेऽपि वा॥
नाधारभेदात् भेदोऽस्ति वह्निदाहकतां प्रति।
स्पृश्यमानो दहत्येव चन्दनैर्ज्वलितोऽप्यसौ॥

एतेन किं क्रियतां इत्याह—

णिअ मण मुणहु रे णिउणेँ जोइ
जिम जल जलहि मिलन्ते सोइ॥ इति।

निपुणं मनो निर्म्मलं भावाभा[46a]वरहितं प्रभास्वरमयं वा द्रक्ष्यसि। हे युयं योगिनः निपुणेन योगेन च योगश्च चित्तवृत्तेरेकाग्रलक्षणं ज्ञानज्ञेयलक्षणं वा स च यादृशं जलस्य जलं मिश्रितं तादृशं स भवति योगं भवति चेत्।

झाणेँ मोक्ख कि चाहुरे आलेँ
माआजाल कि लेहुरे कोलेँ इति।

अलीकेन ध्यानेन केशोण्डुकाद्याभासेन हे मूढ़पुरुष किं मोक्षमधिगच्छसि। तस्मात् तं तयो दुरतिक्रमं। कुतः। मायाजालं समस्तं त्रिभूवनं किं गृह्यते स्वाङ्गोत्सङ्गेषु। न पार्थ्यते इति[46b]यावत्। किन्तु—

3. A. तद्दन्धनं भवति for तत् बुद्धत्वं न सम्भवति। 5. B. नावलीयेत्। 5. B. पृश्यमानो। B. चन्दने ज्वलित्येप्यसाविति। 9. A. क्रियते। 11. A. **जलहिं** MS. **जलहिँ।** A. **मिलन्तेइ** MS. **मिलन्ते होइ।** 12. A. द्रक्ष्यति। 13. B. त्वया योगिनः (?) for यूयं योगिनः। 14. A. omits योगं भवति which B adds in a marginal note. 15. A. **झाने** A. **राहुरे।** 17. A. केशोण्डुकाद्याकारेण। 18. A. omits तं तयो। A. दुरतिक्रम।

वरगुरु-वअणेँ पड़िज्जहु सच्चेँ
सरह भणइ मइ कहिअउ वाँचे॥ इति।

यदि तावत् गुरुवचनस्य सत्यतास्ति। तदा मया सरोरुहप्रवरगुरुवचनेन कथितमिदं दोहाकोषादिम्।

पढ़मेँ जइ आआस विसुद्धो इति।

एवं गुरुवचनस्य प्रतीतिकृते सति यः सव्वभावायासः स विशुद्धो भवति। कुतः—

चाहन्ते चाहन्ते दिट्ठि णिरुद्धो।

यथा दृष्ट्वा चक्षुषा व्यंवलोकनेन निमिषोन्मेषनिरोधेन च यत् दूरतः मरीचिकादि पानीय[47ª]स्य दर्शननिरोधो भवति। तथैव इहापि विचार्य्यमानेन सर्व्वं तन्मयी भवति। नान्यथा किं विचार्य्यत इति। गुरूपदेशामुखोभावसहितः प्रवन्धतः। स च न विकल्पभावनाजालादिवत् यदि वा तेनैव बुद्धत्वं तदा प्रतोत्य तां जनयति। स चान्धकाराभावादालोकवत् छायाभावादातपवत् विशिष्टं निर्म्माणकायोऽत्र जायते। मनोनिरोधेन तु विशिष्टधर्म्मकायस्वभावं भवति। स च सर्व्वमयमिति भावार्थः। न पुनर्मन इति। न किञ्चित् स्यादिति। तत् प्रतीतिं जनयति। प्रतोत्यसमुत्पादत्वाच्च। एवमजान[47ª]तामाह—

---

1. B. वरु। A. वरगुरुवअणे। A. पत्तिजह। A. मथेँ which MS. corrects as सच्चेँ। 4. A. दोहाकोषादिना। 5. A. पडमे for पढ़मे। A. विशुद्धो। 6. B. सर्व्वभवा विशुद्धो। A. सर्व्वभावायासः स(श) विशुद्धो। 7. MS. corrects चाहँते चाहँते। A. दिठ्ठि निरुद्धो। 8. A. मरीचिजालादि। 9. A. तथा इहापि। 10. A. °सुखीभावं सदिते (?) which HS. corrects as °सुखीभावं सदिति। 12. B. सचान्धकाराभावालोकवत्। 13. A. कायस्वभावं HS. कायस्वभावो। 14. B. न पुनर्मणः। A. किञ्चित्यादिति HS. किञ्चित्स्यादिति। 15. A. प्रतीतिञ्च। A. °समुत्पादाच्च।

एसेँ जइ आआस विकालो।
णिअमण दोसेँ ण वुज्झइ वालो। इति।

ईदृशं यदि आयासानां विकालो नोत्पादकालः सर्व्वेषां संहारकालमितिभावः। तदा **णिअमण** भावासक्तदोषतया न विदन्ति। बालजातीयाः तीर्थिकाद्याश्च। एतदाह—तेनेह सह वेदान्तेनैव सांख्याः क्षपणका मता विप्रलब्धा बुद्धयो विदिताः विदितपरमार्थदृढ़चित्तं प्रपिण्डैरकात्मदृष्ट्याभिनिविष्टाः। अप्राप्तविनयकालतया च महाकारुणिकैरप्युपेक्षिताः भूयः संसारग्रन्थिमेव दृ[48ª]ढ़यन्तोऽनुकम्पनीया एव। करुणाशालिनां विपदि वर्त्तमाना इति न द्वेषार्हाः। ये तु सौगतनैत्रिकाः तेऽपि वस्तुधियः(?) सांसारिकनैर्व्वाणिकपक्षाववोधपटवो न स्वाख्यातसिद्धान्तानुगबुद्धिभिः प्रतार्य्यन्त इति विस्तरः। तस्मात्—

अहिमाणदोसेँ ण लक्खिअ तत्त। इति।

मिथ्याज्ञानाभिमानदोषैस्तत्त्वं न विज्ञातं।

तेण दूसइ सअल जाणु सो देत्त। इति।

सदोषतया दूषितं भवति सकलं यानं मार्गश्च तैः। आदैत्यपुरुषवत् [48ª] अनेन···

झाणेँ मोहिअ सअल वि लोअ इति। सर्व्वलोकः स्वस्वयानं तीर्थिकादीनां यानमेवेति। इदं—

णिअ सहाव णउ लक्खइ कोअ इति। निजस्वभावं सहजसर्व्वकालमवस्थानात्। स न लक्षितः केनचित् लोकेनाज्ञानावृतेनेति ग्रन्थकारः परिदेवनां करोति। पुनः—

---

1. A. एसे। A. विकलो। 2. A. दोष। 3. A. संहामिकाल- HS. संहारकाल- 4. A. निअमेण HS. नियमेन। B. नियमेन। 5. A. शाख्या HS. शांख्याः। A. मतविप्रलब्ध- 6. A. प्रपिण्डेकात्म- 7. A. °पेक्षिता। A. ग्रन्थमेव। 9. A. वस्तुधियः B. चस्तधियः (?) A. omits नैर्व्वाणिक। 10. A. पर्थ्यन्त, HS. पश्यन्त for प्रतार्य्यन्त। A. तस्मात्। 11. A. दोषे। A. लाक्खिउ तत्त्व। 13. A. जानइ MS. जनइ। A. दत्त। 14. A. तैश्च (च) दैत्यपुरुषवत्— 15. A. स्वयानं। 18. B. लक्षितं।

चित्तह मूल ण लक्खिअउ सहजेँ तिण्ण वि तत्थ ।
तहिँ जीवइ विलअ जाइ वसिअउ तहि फुड़ एत्थ ॥

इति। अनेन स्थिरमुपदेशं दृढ़ापयति। चित्तह इति चिन्ताया उपदेश[49a]स्यैकं। तथा मूलं न लक्षितं यद् गुरुणां वचने न स्थापितं द्वितीयं। सहजस्य स्वभावरूपं लक्षकेण लक्षितं। एवं तत्त्वत्रयं लक्ष्यलक्षणलक्षकं वितथं अतथ्यं। यदि गृह्यते तदा सर्व्वं चित्तचैतन्यरूपका भवन्ति। एतेनोपदेशस्य सत्ता न स्यात्। तस्मिन् स्थाने वीरपुरुषा जीवन्तः सूराः विरला योगिनः जायन्ते। तस्मात् हे पुत्र ईदृशेषु स्थानेषु वसितव्यं। तस्मिन् सर्व्वधर्म्मा निलीनाः कार्य्याः स परमार्थ इत्युच्यते। तदेवाह—

जयति सुखराज एकः कारण[49b]रहितः सदोदितो जगतां ।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्व्वज्ञ ।

इति एवं—

मूलरहिअ जो चिन्तइ तत्त ।
गुरुउवएसेँ एत्त विअत्त । इति ।

यः कश्चित् मूलरहितं तत्त्वं चिन्तयति। गुरूपदेशेनैतत् पुरुषरत्नैर्विदितं तत्त्वमिति। विदितं गुरूपदेशं अस्तव्यस्तमार्गयानि सिद्धं।

1. A. न, तिन्न। 2. B. जइ। A. तहि हत ग्रन्यँ—MS. तहिँ हे पुत्त। B. has तहि फुड़ (?) एत्थ, but फुड़ may be read as फुत। 3. B. उपदेशास्यैका- 5. A. omits लक्ष्य- 7. A. शूराः। A. has क्वचित् before विरला। A. योगिनो। 13. A. चित्तइ which HS. corrects as चिन्तइ। A. 14. एत विअत्त। 15. A. मूलनहितं HS. मूलरहितं। A. चित्तयति HS. चिन्तयति। B. गुरूपदेशे मैतत्। A. न विदितं for विदितं। 16. A. असत्यस्तेपि मार्गयायिने सिद्धं, HS. -मार्गयायिनो-।

सरह भणइ वढ़ जाणहु चंगे ।
चित्तरुअ संसारह भङ्गे । इति ।

एतेन ग्रन्थकारः स्पष्टार्थं वदति। यः कश्चित् चित्तरूपभावना सा संसारस्य भयहेतुका भवेत्। तदा उक्तः। [50a]गुरूपदेशेन तत्त्वं लक्ष्यते दृढ़निश्चयेन यः चित्तरूपः। संसारश्चित्तमयो वा तस्य भग्नो सम्भवतीति भावः। तस्मात् तत्त्वं—

णिअ-सहाव णउ कहिअउ अणेँ ॥ इति।

निजस्वभावं स्वयम्भूस्वरूपं नान्येन कथितं तीर्थिकादिना। तदा केन सद्गुरुणेत्याह।

दीसइ गुरु-उवएसेँ ण अणेँ ॥ इति।

मया सरहेण दृष्टं सद्गुरूपदेशेन सौगताश्रयेन नान्यनेति। गुरूपदेश-चक्षुषावगतं। परिभाषितुं यत् तन्मूकोऽस्मिन्निति। ईदृशं यस्यास्ति तस्य गुणमाह—

णउ तसु दो[50b]सजे एक्कवि ठ्ठाइ।

न तस्य दोषस्य एकं स्थानमस्ति। येन—

धम्माधम्म सो सोहिअ खाइ। इति।

गुरूपदेशेन धर्म्माधर्म्मं पूर्व्वोक्तलक्षणं शोधनीयत्वात् च। शोधितं भक्षणं करोति। अस्यैवोपचारमाह—

1. B. जाहु for जाणहु। 2. A. has no इति at the end ot the *pāda*. 3. B. स for सा- A. संसारभय-। 4. B. लक्ष्यति। 5. A. ये चितरूपाः। A. संसार चित्त['] माया। A. has तस्य न for तस्य भग्नो। 10. A. उअएसेँ न अणाँ 11. A has no दृष्टं after सरहेण। 12. A. -चक्षुषावगत परिचितं for -चक्षुषावगतं परिभाषितुं। A. मूकोऽस्मि मिति, HS. मूकोऽस्मि इति। 14. A. ठाइ for ठ्ठाइ। 15. A. दोषस्य स्थानमस्ति। 17. B. सोमोतिहअ (?) for सोहिअ MS. सो सोहिअ। A. सोधोनीयत्वात् सोधितं।

णिअमण सव्वेँ सोहिअ जव्वेँ । इति ।

एवं अमनसर्व्वधर्म्माः स्वभावोत्पन्ना नोत्पादिताः केनचित् । यथा तृणवनगुल्मादयः स्वभावेनोत्पन्ना विलयं यान्ति तद्वदिह द्विपदचतुष्पदादयः स्वभावेनोत्पन्ना निर्म्मना विलयं यान्ति हि न केनचिदुत्पादिता भवन्ति । तत्कथं[51^{a}] दृश्यते । उत्पपादादि मया कृता इमं रूपादयः । भ्रान्त्याऽज्ञानिनां वचनमेतत् । तत्परित्यागात् यस्मिन् क्षणे तस्मिन्नेव क्षणे सर्व्वधर्म्मशोधनं । तन्नयत्वाच्च भक्षितं भवति—

गुरुगुण हिअए पइसइ तव्वेँ ॥ इति ।

गुरुणा दत्तोपदेशगुणश्च स्वहृदये प्रविष्टं तत्र शोधनभक्षादिकालेषु कायादि सर्व्वं ददातीति प्रत्ययात् । न पुनर्गुरूपदेशं विवदन्ति न किञ्चित् ददाति ग्रहरूपत्वात् न वेत्तीति भावः ।

एवँ मणे मुणि सरहेँ गाहिउ ॥ इति ।

ईदृशं मनसालक्षितं मनलक्षितं । [51^{b}] अथवा एवमनेन मुनिर्भगवान् परमार्थरूपकं सरोरुहवज्रपादेनोक्तं । धर्म्मधातुलक्षणं न पुनः शशविषाणवत् न किञ्चिदमनं । तथाचोक्तं—

सावस्था काप्यविज्ञेया मादृशां शून्यतोच्यते ।
न पुन लोकरूढ़ेव नास्तिक्यार्थानुपातिनो ॥
नास्तितारूपमेवास्य व्यवहारार्थमस्तिता ।
निःस्वभावेषु धर्म्मेषु कस्य चास्तित्वनास्तिता ॥

---

1. A. **सवे, जवेँ**, MS. **सव्वे, जव्वेँ** । 2. A. अमनः सर्व्वधर्म्माः । A. केनचित्तु for केनचित् । 3. A. has हि after यान्ति । A. निर्म्मला for निर्म्मना । 5. A. omits इमं । 8. A. **दियए,** HS. **हियए** । A. **तवेँ**, MS. **तव्वेँ** । 9. A. दत्तोपदेशगुणश्च । A. हृदये for स्वहृदये । 10. B. विदन्ति for विवदन्ति । 12. A. **एवमणे** MS. **एव अमणे** । 14. A. परमार्थरूपक- । 15. A. किञ्चिदमन । 16. A. मादृशा । 17. A. लोकरूढेव HS. लौकिकादेव । A. अनुपातिनी । 18. A. नास्ति [स्व]रूपमेवास्य । 19. A. चास्तित्वमास्तिना ।

न स्मर्त्तव्यं त्वयेत्युक्ते स्मरत्येव निषेधितं ।
यथा तथैवासच्छब्दात् सोन्तरं प्रतिपद्यति ।

इति विस्तरः । अथवा यदि वदन्ति अभ्यासात् [52^{a-b}] क्लेशावृतमनोविरोधेन विशिष्टं मनो बुद्धत्वरूपं जायते । तदा कथमनेनोक्तेन किञ्चित् स्यात् । सिद्धं परमार्थं मम सर्व्वेषु तदाश्रिता चेति । तन्न भवति कथं तदित्याह—

तन्त मन्त णउ एक्कवि चाहिउ इति । तन्त्रः बहुप्रकारः तन्त्रोक्ता मन्त्रास्तेषु सिद्धान्तं नाना स्वपरकल्पितं । मया एकमात्रं न प्रेक्षितं भाव्यभावकादिलक्षणं । कुतस्तैर्लोकानां वैनेयमात्रं न पुनर्विशिष्टफलं ततो जायते । तथाचोक्तं—

(?) आस्थिमाभ्यासयोगेन आदिशुद्धा स्वभाविका ।
प्रकृत्यैव हि सा सिद्धा तथता न विकल्पजा ॥
अभाव लक्षणाद्बोधिः सर्व्वधर्म्माश्च तन्मयाः ।
अतस्तत् प्रार्थयेच्चर्य्यां निजस्कन्धप्लवोपमां ॥ इति

तस्मात्—**वज्भइ कम्मेण जणो कम्मविमुक्केण होइ मणमोक्खँ** इति । येन कर्म्मणा जन्तवो विबध्यन्ते तत्परित्यागाधिमोक्षेण च भवति मनोमोक्षं । मोक्षश्चात्मात्मीयविकल्परहिततया मिथ्याभावनया मनः संज्ञैव बन्धनात् तस्य निरोध । एवं परिज्ञाने युगपत् मनोमोक्षेति भावार्थश्चाह—

मणमोक्खेण अणूणं पाविज्जइ परमणिव्वाणँ इति । मन [53^{a}] मोक्षेति । मनश्च मोक्षं च अनयोरन्योन्यं निश्चितं परस्पररहितं परमनिर्व्वाणलक्षणं प्राप्तिः ।

---

1. B. स्मरत्वेव । A. सात्तर HS. सोत्तरं । Fol. 52^{a-b} lost in B. 5. A. आश्रता । 14. MS. wrongly reads **मणमोक्खम्** । 18. A. मन HS. मनो ; 19. A. मनश्च । A. अनयोरन्योन्य— । B. अनयोरण्यं— ।

चित्तेक्क सअलवीअं भवणिव्वाणो वि जस्स विप्फुरन्ति इति। एवं उक्तनिर्व्वाणे प्राप्ते सति तदा कः चित्ते बद्धे सति चित्तात् सकलमविद्यावीजं भवनिर्व्वाणात्मका च अशक्या विस्फुरन्ति। ते भवस्थायिका च न भवतीति यावत्। तस्मात्—

तं चिन्तामणिरुअं पणमह इच्छाफलं देन्ति इति। परम-निर्व्वाणस्य विशेषणं। स चिन्तामणिरूपस्तस्य प्रणामं कुरुत। कुत इ[53^b]च्छाफलं ददाति इति हेतुना। इच्छा च महाकरुणा जगदर्थात्मिका तां वाञ्छाफलं येन पूरितमनाभोगतः सैव गुरुस्तस्यैति चिन्तामणिस्तथा। एवं—

चित्तेँ वज्झेँ वज्झइ मुक्केँ मुक्केइ णत्थि सन्देहा इति। चित्तेन बद्धेन विकल्पादिना बध्यन्ति। पुनरपि तत्परिज्ञानात् मुक्तिं लप्स्यन्ति। एवं वितथः बन्धमुक्त मुक्तवन्धेषु तत्र मुक्तिः। अद्वयेनेति नास्ति सन्देहः। एवमपरि-ज्ञानात् संसारे विभ्रमन्ति बालजातीयाः पण्डिताः मुच्यन्ते।

वज्झन्ति जे[54^a]ण वि जड़ा लहु परिमुच्चन्ति तेण वि वुहा। इति। येनैव पञ्चकामोपभोगादिना मूर्खलोका बध्यन्ते तेनैव सति परिज्ञाने गुरोरादेशात् पण्डिता लघु शीघ्रतः संसारात् मुक्ता भवन्ति। तथाचोक्तं—

येनैव विषखण्डेन मृयन्ते सर्व्वजन्तवः।
तेनैव विषतत्त्वज्ञो विषेण स्फोटयेद्विषं। इति तथा

पुनः—

वद्धो धावइ दहदिहहिँ मुक्को णिच्चल ठाइ इति। यथा पुरुष आत्मात्मीयविकल्पेन बध्यमानो दशदिशि धावति षड्गतिसंसारे विभ्रमति तथा स एव पुरु[51^b]षः सम्यक् मार्गात् मुक्तः तदा निश्चलेनात्मपरिमुक्ते स्थाने स्थितत्वात् धर्म्मकायात्मकः इति भावः।

एमइ करहा पेक्खु सहि विवरिअ मह्नु पड़िहाइ इति। समुदायतोऽत्र यथा करभ उष्ट्रः महाभारेण बद्धस्तदा वेगेन धावति धारयितु-मशक्तः। स एव भारत्यागात् मुक्तः क्षणे निश्चल एकस्थाने स्थितस्तथा ईदृशं करभमिव स्वकीयं चित्तं साक्षात् विहरति। तादृशं मम प्रतिभासते व्यपदेशार्थोक्तलक्षणात् इति।

इदानीमस्य कार्य्यमाह—

पवणरहिअ [55^a] अप्पाण म चिन्तह।
कठ्ठ जोइ णासग्ग म वंदह॥ इति।

---

1. A. वीज्जस्स MS. विजंसि। A. विस्फुरन्ति। 2. A. [व]द्धे नति, HS. [व]द्धे सति। In B the portion which contains चित्तात् is broken but there is no space for more than one letter which might have been हि। 5. B. one may read: तँ चिन्तामणि रुअँ, पणमह इच्छाफलँ। 6. A. विशेषण। A. चिन्तामणिरूपं तस्य। 7. A. तेन for इति। 8. A. तद्वाञ्छाफलं। A. येण HS. takes एवं as a part of the *pāda* through mistake. 9. A. वभ्जइ। A. मुक्कइ मुक्केइ। A. सन्देहो MS. सन्देहो but rhyme requires सन्देहा। 10. A. एव [मव]न्वितः। 12. B. वालजातीयां (?) 13. A. वज्जंति। A. लघु। A. परिमुच्चन्ति। A. तेनवि वुधा B. तेनवि वुहा।

1. A. मृयते HS. मृयन्ते। 2. A. स्फ टयेत्। 4. A. दिहहिं MS. दिहहिँ। A. निच्चन HS निच्चल। A. ठ्ठाइ। 5. B. आत्मीय— B. दशदिशे (?) B. विभ्रमन्ति ?) 6. A. B. निश्चलेनात्वपरिमुक्ते HS. निश्चलेनात्म°। 7. A. स्थितं for स्थितत्वात्। A. धर्म्मकायात्मकम्। 8. A. विवरिअ HS. विहरिअ। A. पड्ड़िहाइ। 9. A. यदा for यथा। A. करह for करभ। 10. A. अशक्यः for अशक्तः। A. निश्च[ल]श्चैक-स्थाने। B, ईदृश। 11. A, स्वकीय। A. विहरन्ति। 12. A, व्यपदेशार्थाः। A, omits इति। Fol, 55^a-62^b of B. are lost, From the *pāda* कुड्डइ वेणि- (infra) I have C, 14. A. अध्याण HS. अप्पाण MS. अप्पाण, 15. A. कटूजोइणा सग्ग; MS, restores: कठ्ठ जोइ! णासग्ग after the Tibetan translation.

पवनेति वायु नासिकाश्वासोत्श्वासलक्षणं तद्रहिततया आत्मानं न द्रक्ष्यति। कुतः। यावत् वायुाश्रितं शरीरं तद्रहितेन शरीरस्य कुतः स्थानमस्ति। एवं गुरूपदेशात् वायुस्तन्मयं ज्ञात्वा कुत्रात्मानो न लभ्यन्ते। तस्मात् त्यज कष्टेन योगिन विकल्पात्मकेन तस्याः संगं न क्रियतामिति निश्चयं। किं क्रियते इत्याह—

अरे वढ़ सहजे सइ परज्जह।
मा भवगन्धबन्ध पड़िचज्जह। इति

हे मूढ़ पुरुष अल्पाशयं त्यजसि महाशयं कुरुष्व किन्तत् सहजं गवेषय। तत् प्रवेशे महार्थतया शक्तिं कुरु। मा भवगन्धेति भवस्य गन्ध गन्धर्व्वसत्त्वतया गत्यागतिभावात् यैर्भवबन्धनमलातचक्रवत् भवति तस्मिन् मा त्वं सक्तिं कुरु।

एहु मण मेल्लह पवण तुरङ्ग सुचञ्चल।
सहज सहावे स वसइ होइ निच्चल॥ इति

इत्थं मनः पवनञ्च सुष्ठु चञ्चलमिव तुरङ्गं यथाऽस्य निरन्तरत्वात् तत् त्यज्यं कुरु। इदं ग्राहयिष्यसि। किन्तत् सहजस्वभावस्थानं गुरूपदेशः तेनाश्रितेन साक्षान्निश्चलं भविष्यति। आत्मना ज्ञायते पुण्यादितिवचनात्। अस्य विशेषणमाह—

जव्वेँ मण अत्थमण जाइ तणु तुट्टइ बन्धण।
तव्वेँ समरस सहजे वज्जइ णउ सुद्द ण बम्हण॥ इति

यस्मिन् क्षणे विकल्पमनः अस्तमितं भवति तस्मिन् सर्व्वबन्धनं विनश्यति। न केवलमात्मनो बन्धनमात्रं विशेषेण तस्मिन् काले समरस सहजं वर्जनं सर्व्वलोकानां

1. A, नासिश्वा। 3. A. लभ्यते, HS, लभ्यन्ते। 5. A. वट, MS. वढ़। A. शइ MS. सइ। 6. A. पड़िवज्जह MS. परिचज्जह। 11. MS. [बुज्झह] सो वि सइ for स वसइ। 12. A, यथाऽस्व HS, यथाऽस्य। 15. A. अच्छमण MS. अत्थमण। 17. विनस्यति।

करोति। तया न शूद्रं ब्राह्मणादि जातिविशेषं भवति सिद्धं। सर्व्वे लोका एकजातिनिबद्धाश्च सहजमेवेति भावः। तस्यैवानुसंसामाह—नास्ति सहजात् परं सिद्धान्तमिति। एवं—

एत्थु से सुरसरि जमुणा एत्थु से गङ्गा-साअरु।
एत्थु पआग वणारसि एत्थु से चन्द दिवाअरु॥ इति

एवमस्ति सुष्ठु क्रीड़ा कुतोऽस्ति स्वपरात्म-सहजेन अविच्छिन्नप्रवाहादिति। सैव यमुनागङ्गादिनामा च न पुनः पानीयस्नानाधारतया किन्तु यमुना सर्व्वयानतदाश्रया च। गङ्गा तत्परिगमनशीला सागरञ्च सर्व्वसमाध्यपदेशसमुद्रत्वं प्रयागञ्च अद्वयत्वात् वाराणसी चाद्वयद्वयनिवारणात् चन्द्रदिवाकरौ च राहुग्रहणतया उपदेशाग्निना सर्व्वं भक्षयेदिति। न केवलं तीर्थादि सहजपीठोपपीठादिषु च। तमाह—

क्खेत्तु पीठ उपपीठ एत्थु इति। एवं क्षेत्रोपक्षेत्रादि सर्व्वं हि चतुर्विंशति स्थानानि। स बाह्यभ्रमणकार्य्यमस्ति। स च—मइँ भमइ परिठ्ठओ इति। मया परिभ्रमणस्थापित-योगिन्युपदेशात् बाह्याध्यात्मिकं विश्वं सुखमयमेवेति भावार्थः। एतेन किमुक्तं स्यात्। स्वशरीरं सुखरूपं तस्य धातुः पीठादिरूपतया बाह्येषु प्रवृत्तिः। तेनाह—

देहा-सरिसअ तित्थ मइँ सुह अण्ण ण दीठ्ठओ॥

इति। देहा शरीरसदृशं तीर्थं सुखरूपं यदि भवति तदा सुखं। यदा शरीरसदृशं तीर्थं मया सुखं नष्टमिति तस्मादभिन्नेन विहर्त्तव्यं योगिनेति। एवं पुनराध्यात्मिकेषु पीठादिषु च सञ्चारादिनावगन्तव्यं तेषु च सुखमयेन सञ्चारं न वायुमात्रेणेति। तस्मात् धर्म्ममहासुखमयं पीठादि सिद्धं। इत्थमाध्यात्मिकपीठादिदेवताधिष्ठानवतो निष्पन्नयोगिनो बाह्यपीठादिभ्रमणमनर्थकं। यथोक्तं—

12. MS. खेत्तु। 13. A. मइ MS. मइँ, 14. A. परिठ्ठवो, 17. A. माइ, MS. मइँ। A. सुहअ ण MS. सुह अस ण।

चतुर्व्विंशति भेदेन पीठाद्यत्रैव संस्थितं ।
अतस्तत्ग्रहणार्थेन खेदः कार्य्यो न तात्त्विकैः ॥
यदि तत्त्वविहीनस्य भ्रान्त्यावेशान्न किञ्चन ।
अथ तत्रोपेतास्ते स्वभ्रान्त्या तेषां न किञ्चन ॥ इति

तस्मादभिन्नरूपमिति निश्चयः । तमाह—

सण्ड-पुअणि-दल-कमलगन्ध-केशर-वरणालेँ इति । दृष्टान्तेन पद्मस्य पृथग्भावं त्यज । स न च एकैकस्य पर्य्यायस्य सण्ड यथा पुअणि पद्मपत्रं दलञ्च कमलञ्च गन्धकेशरञ्च वरमुत्कृष्टं नालञ्च । एवं—

छड्डहु वेणिम ण करहु सोसं ण लग्गहु वढ़ आलेँ ॥ हे पशुपुरुष उक्तपद्मस्य पृथग्भावं त्यजत । एकैकस्य पर्य्यायस्य चित्तशोषं कुरु । तस्मादीदृशस्याज्ञानवाक्यस्य नानाशास्त्रोपचारात् सुखबाह्ये मा लग्गसि । तथा—

काम तव्व खअ जाइ पुच्छह कुलहीणओ ।
वम्ह विठ्ठु तेलोअ सअल जहि णिलीणओ ॥

किं मन्त्रशास्त्रेण सहजबाह्येण पृच्छां कुरु तैर्विना सर्व्वमन्त्रशास्त्रं क्षयं याति । यथा कुलहीनेन पुत्रेणासारेण च पितुरभावात् सर्व्वं यत् किञ्चित् द्रविणादिक्षयं याति सर्व्वं राजादिना गृह्यते । एवं तत्त्वहीनेन सर्व्वमन्त्रशास्त्रं धर्म्मं वा अविद्यागृहीतैः क्षयं याति एवं समुदायार्थः । सहजाकाशवत् त्यक्त्वा विकल्पनां ज्ञानाश्रयात् नामधेयमात्रं न लभते तथागतोऽन्यस्य । तस्मिन् सर्व्वं क्षयं याति ।

9. A. छड़ुहु MS. छड्डहु । A. वेणि म करहु HS. वेणि मण करहु । A. वट । C. [व]ट, MS. वढ़ । 12. A. खय, MS. खय, C. खअ । A. C. जाइ, MS. जइ । 13. C. विसहु विट्टु for वम्ह विठ्ठु । A. तहिं त लोअ सहजहि णिलीनओ, MS. तेलोअ सअल सह जहिँ णिलीनओ, C. तहि लोअ सअल जहिअ इविण......(?)

एव कुलपञ्चतथागतादि सर्व्वं हीना भवन्ति । यस्मिन् स्थाने अन्ये च ब्रह्मा-विष्णुमहेश्वरादीनि तस्मिन् सकललोका लीना लग्ना न किञ्चित्तत्त्वविदो भवन्ति । तस्मात् सर्व्वशास्त्रतत्त्ववेदिनस्तैर्विना निष्फला इति । तथाचोक्तं—

चतुराशीति साहस्रे धर्म्मस्कन्धे महामुनेः ।
तत्त्वं ये वै न जानन्ति सर्व्वं ते निष्फला । इति ।

अत आह—

अरे पुत्तो वोज्झु रसरसण सुसण्ठिअ अवेज्ज ।
वक्खाण पढ़न्तेहि जगहि ण जाणिउ सोज्झ ॥ इति

हे पुत्र त्वया रसरसायनसाधनकाले स्फूटतरशुद्धिमजानानो यथा नष्टः तथा रागादिशुद्धिमजानानो नष्टः । त्वमीदृशं मा कुरु । रागादभिलषितधर्म्मादिषु क्रीड़ा या सा तत्त्वरहिततया सुष्ठुसंगृहीता अविद्यैवेति । न केवलं तत्त्वं प्रति । अन्ये च लोकाः व्याख्यानं कुर्व्वन्ति पठन्ति च । तेषां सर्व्वं निष्फलं भवति । कुतः । जगत् संसारस्य अज्ञानात् । यः पुनर्जानाति । तस्योच्यते—

अरे पुत्तो तत्तो विचित्त रस कहण ण सक्कइ वत्थु ।
कप्परहिअ सुह-ठाणु वरजगु उअज्जइ तत्थु ॥ इति ।

हे शिष्य पुत्र यत् तत्त्वं विचिन्तितं तस्य रसं स्वानुभवकथनं न शक्यते । इदं वस्तुरूपं नीलपीताद्याकारं तद्वत् किं तत् स्वसंवेद्यं यतः "तां जानाति स एव हि" ॥ तस्मात् कल्परहितं सुखस्थानं यस्माच्छ्रेष्ठजगतत्त्वरूपमिति भावः । एवं

7. A. यरे HS. अरे । A. वोज्जु, C. वोज्ज, MS. वोज्झु । A. सुसंठिअ, C. सुसण्ठिअ । 8. C. पड़न्तेहि । A. सोज्झ, C, सेज्झ which is also supported by the rhyme. 14. A. तत्त विचित्त रस कहण ण सकइ वत्थ, MS.—वत्थु । 15. A. वरु जग । A. उवज्जइ । A. तत्थ, MS. तत्थु । 16. A. सिष्य । A, तत्त्व विचित्ततं HS, तत्त्वं विचिन्तितं ।

ध्यानेन नोपलभ्यते स्वभावसिद्धत्वात् गुरुपरिज्ञानमात्रेणोपलभ्यते नाभिमानादिना। तदाह—

बुद्धि विणासइ मण मरइ जहि [तुट्टइ] अहिमाण।
सो माआमअ परम-कलु तहिँ किम्वज्झइ झाण॥ इति।

एवं गुरुणा दत्त सहजासुखोकरणात् यत्किञ्चित् कल्पितां बुद्धिं विनाशयति विस्मरणं करोति विकल्पमनो म्रियते बाह्यादिवस्तुलक्षणकं न भवति। तस्मिन् स्थाने अभिमानता अहंकार आत्मात्मोयकल्पना त्रुट्यति क्षयं याति। यस्मात् स मायामयपरमकलारूपकं कलेति षोड़शो कलेव नार्थं करोति किञ्चित्। तदिह हि ध्यानबन्धनेन किं कार्य्यमस्ति। मनः परिकल्पिततया नास्तीति यावत्। तस्य विशेषणमाह—

भवहि उअज्जइ खअहि णिवज्जइ।
भावरहिअ पुणु कहि उवज्जइ॥ इति।

यस्मिन् स्थाने भवभक्षितं पुनरप्यत्रैव क्षयविवर्ज्जितं। एवं भावाभावरहितः। भूयः कस्मिन्नप्युत्पादो नोपपद्यते इति यावत्। एतदुक्तेन नास्तिकं न भवतीति। कुतः। यतः बुद्धादिलक्षणं सर्व्वं मायावत् भावाभावमिति प्रसङ्गः। किन्तर्हि कल्पन-योगात् तत् तथोक्तः। एवं पुनः

विस्स विवज्जिअ जोउ वज्जइ।
अच्छइ सिरिगुरुणाह कहिज्जइ॥ इति।

द्वयवर्ज्जितेषु द्वयेषु योगं मध्यमोपलब्धिविवर्ज्जिभिः परमविरमयोर्मध्यमेनोपलभ्यते इत्याशयः। सर्व्वमद्वयमेवेति। तदपि वर्ज्जनात् तां स्थितिं कुरु। यत्र श्रोगुरुणा शिरसा कथनं कुरु। अत्याश्चर्य्यरूपा शिरश्चालनमेवेति। तस्मादनेन न्यायेन इदं विहरणं कुरु।

3. A. जहि MS. जहिँ; MS. तुट्टइ अहिमान from Tibetan. A. अहिमान। 4. A. मायामय। A. तहि MS. तहिँ। A किम्वज्जइ। 11. A. खअहि C. चहि (?) 12. A. कहि उवज्जइ। 17. A. MS. विस्स। C. वेन्ति (?) A. ज्जोओ। 18. A. अच्छहि। A. C. णाह, MS. णह।

देक्खहु सुणहु परीसहु खाहु।
जिग्घहु भमहु वइठ्ठ उठ्ठाहु॥ इत्यादि।

अत्र यत्किञ्चिच्चक्षुषा द्रक्ष्यसि कर्णाभ्यां शब्दं शृणुति परिधानं वस्त्रादि शरीरं गवच्छसि च सुखेन भक्षणं कुरुवन्ति नाशया सुगन्धं दुर्गन्धं वा जिघ्रसि भ्रमणं वा चंक्रमणं वा करोषि आसने निषस्रोसि उत्तिष्ठसि वा—

आलमाल व्यवहारँ पेल्लइ।
मण छड्डु एक्काकार म चल्लइ॥ इति।

आलमाल क्रयविक्रयादि तैर्व्यवहारेण कालं कुरुष्व। मनश्चेतदद्वययोगात् न चलं तु अन्यमनपृष्टा कारणकर्त्तादिना एकाकारस्वभावेन परिभ्रमणं मा करिष्यसि। ते नरकादिदुःखमनुभवन्ति। तस्मात् सद्गुरुपदेशस्मरणं कुरु। तमाह—

गुरु उवएसेँ अमिअ-रसु धावहि ण पीअउ जेहि।
बहु सत्यत्थ मरुत्थलिहिँ तिसिए म[63a]रिअउ तेहि॥

गुरूपदेशममृतरसं महावेगेन परिधाविततया यैः कापुरुषैः न पीतं तेन विश्वसत्वार्थं भग्नं। यथा मरुस्थलीषु बहुसंघातदृषितं पानीयरहिततया तत्र सार्थवाहकेन क्वचित् शोष्यस्थानेषु पानीयं दृष्टं तेन कोषदायापिता इति मत्वा

1. C. सुणह परीसह। 2. A. जिघाहु MS. जिघाहु। A. उठ्ठाहु। 5. A. व्यवहारे MS. ववहारे। A. MS पेल्लइ, C. वोल्लइ (?) 6. A. MS. एक्कार। A. चल्लह MS. चल्लइ, C. चालइ। 12. A. उवएसो MS. उवएसह। A. हवहिँ। 13. A. सत्यत्थ MS. सत्यत्थ। A. मरुस्थलिहिं MS मरुत्थलिहिँ। A. MS. तिसिए। A मरियउ MS. मरिअउ C. मरिचउ (?) 14. A. पीनं HS. पीतं। 15. A. वहुसंघातं दृपिरं HS. °दृषितं। 16. B. सार्थहकेन। A. सौषस्थानेषु। कोशीदाया°। A. इतित्वा[त्]।

सार्थैरज्ञाता तेषु नोक्ततया सर्व्वं संबाधितं भवति। एवं परम्परया सर्व्वसत्वा विनाशिता भवन्ति। उपदेशस्य स्वलक्षणमाह—

चित्ताचित्त विपरिहरहु तिम अच्छहु जिम वालु।
गुरुव[63b]अणेँ दिढ़भत्ति करु होइ जइ सहज उलालु॥

चित्ता ज्ञानज्ञेयादि। अचित्तो निःस्वभावादि। ताभ्यां परिहारं कुर्य्यात्। वालमिव स्थितिं कुरु। निष्केवलं गुरूपदेशस्य दृढ़भक्तिं करोसि। येन सहजस्योल्लापनं भवति। उल्लापनं च निरन्तराभ्यासेन तन्मयं यास्यति। तन्मयञ्च सर्व्वावरणरहितमवाच्यं चेत्याह—

अक्खरवण्णो परमगुण रहिजे।
भणइ ण जाणइ एमइ कहिअजे॥

इत्यक्षरवर्णाभ्यां स च नोपलभ्यते। अथवाऽक्षरेति परमाक्षरं तस्य वर्णेदं सुखमयाऽग्राह्यख्यानं। एवं उपमारहितवचनपरम्परया न जानीतं [64a] स ईदृशः मया सरोरुहेनोक्तं। तथाचोक्तं—

यावान् कश्चिद्विकल्पः प्रभवति मनसि त्याज्यरूपः स सर्व्वः।
योऽसावानन्दरूपः हृदयसुखकरः सोऽपि संकल्पमात्रः।

1. A. -नैरज्ञातालेषु HS. -नैरज्ञातजलेषु। A. नोक्तं। A. संवादितं HS. संबाधितं। A. परम्परायातरहिततया। 3. C. चित्ताचित्त MS. चिन्ताचिन्त। A. यच्छहु C. अच्छहु। 4. A. दिढ़ भत्ति MS. दिढ़ भत्ति। C. दिह सत्ति। A. करु हइ हइ MS. करु जइ होइ C. करु होइ हइ। A. उल्लालु C. उलालु। 5. A. चिन्ता। A. अचिन्ता। A. कुर्य्याम HS. कुर्य्यात्। 6. A. वालस्येव। A. कुरु। 7. A. सहजस्य लोपी न। उलालनं। 9. वर्णो MS. वण्णो C. वणो। A. परगुण, C. पमगुण। A. रहिजे MS. रहिये, C. रहिओ। 10. C. भणइ ण जाइ for भमइण जाणइ। A. सोमाइ, MS. सोमइँ, C. से एमइ। A. कहिजे MS. कहिये, C. कहिओ। 11. A. वर्णेद[यं]। 12. A. एवं पमा रहित—HS. एवं प्रमा— for एवं उपमा; Fol. 64a—65b B. lost.

यद्वा वैराग्यहेतोस्तदपि यदुभयन्तद्भवस्याग्रहेतुः।
निर्व्वाणं नान्यदस्ति क्वचिदपि विषये निर्व्विकल्पात्मभावात्॥

इति तस्मात्—

सो परमेसरु कासु कहिज्जइ।
सुरअ कुमारी जिम पड़िज्जइ॥ इति

भ्रान्त्या यावत् सत्वनिकायः स्थितेपि स परमतत्त्वं परमेश्वरोऽन्यसिद्धान्तभावात् कस्य पृथकजनावस्थितस्य कथयामि हि तत्। कथनमात्रेण तेषु प्रवृत्तिः। किन्तर्हि यथा कुमार्यः सखीभ्यामालोचयन्ति। आलोचयन्ति प्रत्ययं कुर्व्वन्ति। प्रथमतः त्वया स्वामिने गत्वा सुखमनुभूतं। तन्मयि साक्षाद्दर्शि निश्चितमेतत्। गत्वा सा पुनरस्य गृहादागत्य सखिना च पृच्छति पूर्व्वोक्तं कीदृशमिति। ता ऊचुः। त्वया साक्षात् स्वामिना सहानुभवकाले ज्ञेयमिति। सुखोत्पादं न किञ्चित् साक्षात् ते वक्तुं अवाच्यत्वात्। तमिव गुरूपदेशन्न पुनः कुमारीसुखमिति वस्तुरूपं प्रतिपादयति। एतदेवाह—

भावाभावे जो परहीणो
तहिँ जग सअलासेस विलीणो। इति

यदि चिन्त्यं परमं तत्त्वं। भावाभावयोः कारणशून्यताद्वयत्वात् रहितो तस्मिन् जगत् सकलाशेषबुद्धवज्रधरादिकल्पितात्मकं विलीनं तन्मयेन निरुपलम्भात्।

जव्वेँ तहिँ मण णिच्चल थक्कइ।
तव्वेँ भवसंसारह मुक्कइ॥ इति

4. A. परमेसुरु MS. परमेसरु C. परमेसर। 5. A. जिमहु पड़िज्जइ, C. जिम उपज्जइ। 14. A. भावाभावि, C. भावाभावेँ। A. परहोणी, C. परिहीणेँ। 15. A. सअलासेस विलीनो, C. सअल असेष विलीणओ (?) 18. A. जव्यँ हि मण MS. जव्वेँ हि मण, C. जव्वेँ तहि मण। 19. A. तव्य MS. तव्वेँ, C. तव्वेँ। A. संसारह, C. संसार हि।

उक्तक्रमेण यदि तत्र मनो निश्चलत्वेन स्थितं आत्मात्मीयादिकल्पनारहितत्वात् तस्मिन् काले भवात् षड़्गतिसंसारदोषात् मुक्तो भवति।

अनया कृते सति दोषान्याह—

जाव ण अप्पहिँ पर परिआणसि
ताव कि देहाणुत्तर पावसि॥ इति

यावन्नात्मानं परमोत्कृष्टं तत्त्वरूपं परिजानासि तावत् किं देहस्य शरीरस्य निर्म्माणकायात्मकस्य व्यापकस्य च अनुत्तरं तत्त्वं तद्व्यापकत्वात् प्राप्स्यसि। यस्मादेकानेकत्वमायाति तस्मादात्मग्रहविपर्य्यासात् सर्व्वेषां तादृशं भवति। कस्मादनुत्तरतत्त्वप्रसङ्गादिति।

एमइ क[66a]हिजे भन्ति ण कव्वा।
अप्पहि अप्पा वुज्झसि तव्वा।

ईदृशं मया सरोरुहेनोक्तं तस्य भ्रान्तिं न कदाचित् कुरु। तया भ्रान्त्या च आत्मनात्मानं तदा जानासि। इदं त्यक्त्वा नान्यत् किञ्चिदस्ति। तेनाह—

णउ अणु णउ परमाणु विचिन्तजे।
अणवर भावहि फुरइ सुरत्तजे॥ इति।

न अणुपरमाणवः भावनया चिन्तिताः। अनवरतयोगादिभावने विस्फुरितं वा यदि क्रियते।

4. अप्यहिँ, C. अप्पहु। 10. C. कहिओ for कहिजे। A. भति ण कद्दा 11. A. अप्यहि अप्या MS. अप्पहि अप्पा, C. अप्पहि अप्पा। A. वुझसि MS. वुज्झसि, C. वुज्झसि। MS. तव्वँ C. तव्वा। 12. B. भ्रान्ति। 14. A. विचित्तजे MS. वि चिन्तये। 15. A. स्फुरइ MS. फुरइ। MS. सुरत्तये। 16. A. चिन्तित: HS. चिन्तिवा:। A. विस्फ ुरितं।

भणइ सरह भन्ति एत विमत्तजे। इति।

एतद्धि मा[66b]त्वं कल्पनात्मकं ज्ञानं। एतेन योगेन विमतिर्भवति। न सम्यक्त्वं हि मया कथितं।

अरे णिक्कोली वुज्झह परमत्थजे॥ इति

अरे मूढ़ पुरुष निक्कोली निर्म्मूलो अकुली च। सर्व्वबीजाधारादिरहितस्तत् परमार्थं वदस्व तमाह—

निर्म्मूला परचेतन्मा (?) निर्म्मूला भावनात्मका।
निर्म्मूलं ज्ञेयसे तत्त्वं अकुला हि तथागता। इति

तस्मात् स्वरूपेण स्फूरते नेच्छया तदासङ्गात् सुरतमिति एवमर्थं—

घरेँ अच्छइ वाहिरे पुच्छइ।
पइ[67a]देक्खइ पड़िवेसी पुच्छइ। इति।

यथा कश्चित् योगिनीनां स्वगृहे स्वजनमस्ति बहिः पृच्छति कुत्र स्थितः पुनः प्रियं स्वामिनं पश्यति समीपस्थं गृहे पृच्छति कुत्र स्थित इति। तथा स्वदेहे तत्त्वं व्यवस्थितं बहिरन्यत् ज्ञानं पृच्छति। अज्ञानमेवेति। पुनः स्वानुभवं गुरोरादेशात् पश्यति अनुभवति। तदा समीपवर्त्ती यः कश्चित् कथं तत्त्वमिति पृच्छति। तेनाज्ञानमेवेति। यदज्ञानं तत् ग्राहणीयं। यतो सर्व्वभावा असंस्कृतास्तत् किं ज्ञायते। एवं [67b] पुनर्दृढ़ापयति। सरहेत्यादि—

1. भन्ति। MS. एतवि मत्तए। 4. A. णिक्कोली MS. णिक्कोलि MS. परमत्यये, 5. the portion निक्कोली···अकुली broken in B. A. -रहितस्त्परमार्थं, 7. the portion निर्म्मूला परचेतन्मा broken in B ; A. भावनांशका। 9. A omits एवमर्थं। 10. A. घरे अच्छ घरे अच्छइ MS. घरे अच्छइ। A. वाहिरे कुइ पुच्छइ MS. वाहिरे गइ पेक्खइ। 11. A. MS. पड़वेसो। 12. A. अथ for यथा। A. स्वजनोस्ति। 13. A. पस्यति। 14. A. अज्ञान सेसेति। 15. A. गुरूपदेशात्। B. पश्यत्वपश्येत्यनुभवति (?) 16. A. तेनाज्ञातमेवे'त। B. स ग्राहणीयं (?)

सरह भणइ वढ़ जाणउ अप्पा ।
णउ सो धेअ ण धारण जप्पा ॥ इति ।

उक्ततत्त्वं तत् सर्वमात्मनैवात्मनि जानीत। स पुन स तत्त्व ध्येयधारणादिरूपेण जल्पितं।

जइ गुरु कहइ कि सव्व वि जाणी ।
मोक्ख कि लब्भइ सअल विणु जाणी ॥ इति ।

केनचिदुक्तं भवतीदं यद्गुरुणा कथितं सर्व्वं न तत् सर्व्वं जानीयते। यदात्मनस्मृते तदा तद्वस्तुरूपमाख्याति। किमशक्यं तस्योत्तरं मोक्षं किं लभ्यते गुरुणा उक्तं तया व्यतिक्रमेण [68ª] तमजानानतया न जानातीति यावत्। तत् कथं विज्ञेयादभ्यासादिति स चाभ्यासमात्रेनात्मग्रहात्। तमाह—

देस भमइ हव्वासेँ लईजे ।
सहज ण वुज्झइ पापेँ गाहिजे । इति ।

इह कापुरुषयोगिनां दोषमस्ति। स्वस्थानं त्यक्त्वा सर्व्वदेशेषु भ्रमणं कुर्वन्ति। भक्ताभक्तादिहेतुना तया कायक्लेशक्लमथं (?) न जानन्ति। कुतोऽभ्यासादिति। तदिदमनुत्तर-सहजं न जानाति न व्यक्तीकरोति। कुतः पापेन गृहीतत्वात्। तत् भव्याद्वैत्यादिति। अभ्यासरहित इति भा[68ᵇ]वः।

1. A. mixes up the two pādas as जानउ अप्पा णउ सो बिअणधारणजन्या —MS. reconstructs the first pāda as सरह भणइ वढ़ जाणउ आप्पा। 3. B. जानात्, A. न पुनस्तत्त्वं ध्येयनधारणादिरूपेण— 5. A. जानी, 6. A. लब्वइ MS. लब्भइ। A. सअल वि जाणी MS. सअल विजाणी। 7. A. जानीते, B. जानीयते। A. यदा यदात्मना स्मृयते। 8. A. तद्वस्तु आख्याति। A. किमसक्यं HS. (किमशक्यं)। A. तसत्तरं (HS. त॰ोत्तरं)। 9. A. तस्य A. व्यतिक्रमे तमज्ञानानतया, B. व्यतिक्रमेन तमननाया। 10. A. विज्ञेयमभ्यासा— A. चाभ्यासमात्रमात्मग्रहात्। 11. A. MS. देश। A. भमइ इह ब्वासे MS. भमइ अव्भासे। A. लइजे MS. लइये। 12. A पाप राहिजे MS. पाप लाहिये। 13. A. दोषोऽस्ति। A. सर्व्वं देशेषु। 14. A. तेन कायक्लेशद (ग्ल)मथ्वं न जानाति। 15. A नो जानाति 16. HS. भव्याद्वैत्यादिति।

तथाचोक्तं—

यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनादिना ।
तथाभ्यासादिना बोधिर्जायते नेहजन्मनि । इति ।

अनया यदि तावदभ्यासं क्रियते तदा कथं भावनादीनां परिहारं उक्तं भवतीति आशङ्कात् कस्यचित् स्यात्। तदाह—

विसअ रमन्त ण विसअँ विलिप्पइ ।
ऊअर हरइ ण पाणी छिप्पइ ॥ इति ।

यथा पाणीयमध्ये फेणं दृश्यते न पाणीयं गृह्यते हस्तस्पर्शाच्च एवं तथा सति परिज्ञाने विषयाणां क्रीड़ां करोति पञ्चकामादिना तैर्दोषै र्न गृह्यते। [69ª-70ª] पुनर्यथा पद्मपत्रे जलतरङ्गं गृहीत्वा तत् पानीये र्न लिप्यते। तदोत्पन्ना च पद्मपत्राभोवदिति वचनात्। एवमभ्यासो योगिनस्य।

एमइ जोई मूल सरन्तो ।
विसहि न वाहइ विसअ रमन्तो ॥ इति

ईदृशेन योगिना मूलं गुरूपदेशसरितोऽभ्यासात् सरन्तो जानन्तो तद्विषयैर्न बाधितो यत्किञ्चित् योगिनां विषयादिरूपं तत् सर्व्वं न जातु तस्य बाधका भवन्ति। किं ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञापकञ्च तत्प्रभवादिति। तस्मात् सर्व्वविषयाणां रमणात् न बाध्यत इति यावत्। तथाचोक्तं—

बाह्यं यत् तदसत् स्वभावविरहात् ज्ञानस्य बाह्यार्थवत् ।
शून्यं यत् यदकल्पितञ्च विदुषा तत् तदप्यशून्यं मतम् ।
इत्येवं परिभाव्य भावविभवैर्निश्चित्य तत्त्वैकधाः ।
मायानाटक[नाट]नैकनिपुणो योगीश्वर क्रीड़ति । इति

2. A. नोतिष्ठेत्— HS. नोत्तिष्ठेत्— 3. B. omits इति। 4. A. अभ्यासः। 5. A. आशङ्का। 6. A. विषय MS. विसअ। A. विसअ। विलिप्पइ MS. °विलिप्पइ। 7. हरइ effaced in B. A. त्थिप्पइ MS. छिप्पइ। 8. A. फेण। 9. 69ª-71ᵇ of B lost.

देव पिच्छइ लक्ख वि दीसइ
अप्पणु मारीइ स कि करिअइ। इति

यदि तावद्देवतारूपेणोत्पत्तिस्तल्लक्षणं साक्षाद्दृश्यते इति तदा आत्मा म्रियते। सा देवता किं करिष्यति। न किञ्चिदिति यावत्। तस्मात्—

तोवि ण तुट्टइ एहु संसार।
विणु आआसेँ णाहि णिसार॥ इति

देवताकारं यद्यात्मानं भवति तदपोदं संसारं न नश्यति। कुतः यतः सर्व्वेषां सत्त्वानां पञ्चोपादानस्कन्धाद्यभावात्। आलयविज्ञाने या प्रवृत्तिः सा च गन्धर्व्वसत्त्वात्मकं। सैव पुनरागतिः पूर्व्वाद्युपलम्भात्। देवता च तादृशविज्ञानेनोपलम्भात्। तस्मात् न नश्यति संसारः। मिथ्याघटोयन्त्रवत् परिभ्रमतीतिभावः। किन्तु तेनैव सति परिज्ञाने तदभ्यासेन विना संसारेषु नास्ति निस्सारः। एतद्देवोक्तेन देवताभावेन तावन्न भवति गुरूपदेशं। यस्मादभ्यासः क्रियते। ततो नास्त्यभावस्य विशेषस्तन्न भवति। सम्यग् गुरूपदेशस्य त्वया वार्त्तामात्रं न न श्रुतं किन्तदाह—

अणिमिसलोअण चित्त णिरोहेँ।
पवण णिरुहइ सिरिगुरुवोहेँ। इति।

अनेन यत् कल्पितं कुधियैः कल्पनात्मकं गुरूपदेशं तन्न भवति। यथानिमिषस्तब्धलोचनैश्चित्तं आकाशादिषु निलीनं करोति तेन वायु निरो[71a]धितं भवति। श्रीगुर्व्वादेशत इत्यादि न भवति। कुत एवमाह—

पवण वहइ सो णिच्चलु जव्वेँ।
जोइ कालु करइ कि रे तव्वेँ॥ इति।

1. A. पिज्जइ, A. लच्च, 2. A. अप्यणु, A. मारीई, 5. A. तुटइ, 6. A. आयासेँ, HS. आभासेँ, 15. A. अणिमिष- A. णिरोधेँ, 20. A. निच्चलु।

यस्मिन् क्षणे वायुवाहनतया योगी प्राणं निश्चलं करोति किमत्र तस्मिन् क्षणे हे मूढ़पुरुष कालं मरणं करोति। तस्मात् न भवति। कस्मान्न भवतीत्याह—

जाउ ण इन्दीअ-विसअ-गाम।
तावहि विप्फुरइ अकाम॥ इति।

यावन्नेन्द्रियविषयग्रामः ताभ्यामासक्तिं करोति योगिनस्तावत् न गुरूपदेशं वेत्ति। आस[71b]क्तिश्च विचारागमयुक्त्या लभ्यते। स चात्मादिवस्तुरूपं न दृश्यते परमार्थादिभेदेन तत् कथं प्रत्यक्षेषु दृश्यते। भ्रान्त्या च भ्रान्तिर्नामालोकं। तच्च सम्वृतिसत्यदर्शनात् मायावत् प्रतिभासते। एवं मायोपमं त्रैधातुकं विश्वं। ततः केन आग्रहः क्रियते। न क्रियत इति यावत्। विशेषेण च योगीन्द्रस्य नेच्छया अपरिभावितेन च गुरूपदेशं स्फुरते तस्यैवाभ्यासेन स्मरणात् क्षपयतीति निश्चयः।

अइसेँ विसम सन्धि को पइसइ।
जो जहिँ अत्थि णाउ जाव ण दीसइ।

ईदृशी उक्तलक्षणाया विषमसंसन्धिवचनेषु को पुरुषः प्रवेशं करोति। किमर्थं। यो वस्तु यस्मिन् गुरुपदेशस्य नास्ति यावन्न दृश्यते आत्मादिभावं तावत् किं सा भविष्यति। संक्षेपतः न भाव्यभावकवस्तुरस्ति।

न भाव्यं भावकं वाऽस्ति भावं नास्त्येव सर्व्वतः।
भाव्यभावकभावेन जायते विक्रताक्रतिः।
तत्त्यागो न तु निर्व्वाणं नेच्छयापि च जायते।
यथा सिंहस्यैतत् ध्यानं नेच्छया दृश्यते क्षयात्। इति

1. A. वायुवाहनततया B. वायुवाहनाया। 2. A. मरण करिष्यति HS. मरणं करिष्यति। B. कस्मात् and omits the न after it. 4. B. इन्दिअ-। 5. A. तासहि फुरइ। A. omits अकाम। 7. B. स चात्यादि-। 9. A. प्रतियास्यते for प्रतिभासते। 13. A. सान्धि। 14. जइ। 15. A. इतीदृश्या। A. सन्धि, HS. संनि-। A. करोति for क्रियते। 15. A. आत्मादि तावत् का सा भवति। 17. B भावा—। 19. A. जायतेति क्रताक्रतिः। 21. A_s सिंहस्य तत्।

एवमजानतामाह—

[62ᵇ] पण्डिअ सअल सत्थ वक्खाणइ ।
देहहिँ बुद्ध वसन्त न जाणइ ।
अवणागमण ण तेण विखण्डिअ ।
तोवि णिलज्ज भणइ हउ पण्डिअ । इति ।

पण्डितैर्नानाशास्त्रेषु व्याख्यानं कुर्व्वन्ति । वाग्जालमात्रमेव निष्केवलं नरकगमनहेतु द्रव्यार्थितया । देहस्थितं बुद्धत्वं सद्गुरूपदेशमजाननात् न जानन्ति हि । अक्षरमात्रमाश्रित्य स्वरमजाननात् गुर्व्वाम्नायविना व्याख्यानं कुर्व्वन्ति । ते स्वयं नष्टाः परानपि नाशयन्ति । कुतः । अनेकज[73ᵃ]न्मपरम्परया संसारे गमनागमनहेतुत्वात् न विनाशितः । पुनरपि स महानरकादिरूपसंसारे संसरतीति चेत् । तथापि पुनरेतदर्थं कम्बलाचार्य्येणोक्तमाह—

वर्णाः पदानि वाक्यानि लिङ्गानि वचनानि च ।
क्रियाकारकसम्बन्धात् वितथत्वादवाचकाः ॥
श्लोको हि पञ्चभिः पादे स्त्रिभिर्वाक्यानुनीयते ।
वाक्यस्य वाचतत्त्वत्वात् डाकिनीसमयो भवेत् ॥
गृहीतव्येषु धर्म्मेषु विश्वं शून्येषु पुरातनैः ।
पातितः किमसौ लोकः शब्दसं[73ᵇ]सारसङ्कटे ॥
एषा नास्तीति वक्तव्ये पृष्टः को नाम दर्शयेत् ।
शिरः प्रदक्षिणावर्त्तं भङ्गुरेणेह पाणिना ॥
शिलापीड़कदृष्टान्ते लाघवं गमितं स्वयं ।
शब्दैरात्मा च लोकश्च शब्ददुर्द्धरराशिभिः ॥

3. A. देहेहि । 4. A. अमणा । A. तेन । 5. A. णिलज्जइ । 6. A. पण्डिता । 7. A. हेतुः । A. -मजानात् । 8. A. -माहृत्य । A. -म्नायं । 9. B. तैः । 10. A. -रूपे । 11. A. तथातोपि for तथापि । 12. A. वर्णापरादानि । 13. A. सम्बन्धाः ; वितथस्वाद- । 14. A. श्लोकैः च ; -र्वाक्यो न मीयते । 15. A. वाचकत्वात्तु । 16. B. विद्वत् for विश्वं । 20. A₂ शिलापीत— । 21. -दुद्ध्र ।

इत्यादि विस्तरः । ततो हि पुनरपि निर्लज्जया भाषितं । अहं पण्डितो मूर्ख एवेति ।

जीवन्तह जो णउ जरइ सो अजरामर होइ ॥

अनेनोक्तमर्थस्य दृष्टान्तः । यदि तावत् क्वचित् पुरुषस्य आजीवमरण-पर्य्यन्तेन यदि जरादिना न गृह्यते तदाऽसौ अजरामरत्वं याति । [74ᵃ] एवं न दृश्यते क्वचित् ।

दृश्यते पुनः सर्व्वेषां जन्तवानां ज्वरादिना गृहीतत्वात् मरणान्तं हि जीवितं इत्येकं । द्वितीयं यथा रस जाति-मारित-जारितमात्रेणाष्टलोहान् विन्धति यावत् नातिरसं तथा सत्वान् मरणकालेऽमृतं न जरति यैरजरामरं करोति । आदावेव निर्म्मलमतिर्भक्षणादिना यावत् जरति योगी । केनाजरामरं यातीत्याह—

गुरु-उवएसेँ विमलमइ सो पर धण्णो कोइ ॥ इति ।

यः सद्गुरूपदेशात् विमलमतिना साधि[74ᵇ]तमजरामरत्वं धर्म्मसम्भोग-निर्म्माणमहासुखकायचतुष्टयभेदेन सर्व्वसास्रवाणां निरोधः कृतः । तेन क्रियते नान्येनेति । तस्मात् स पुरुषः धन्यः श्रेष्ठ इति भावः ।

विसअ-विसुद्धेँ णउ रमइ केवल सुण्ण चरेइ ।
उड्डी वोहिअ काउ जिम पलुट्टिअ तहवि पड़इ ॥ इति ।

विशुद्धविषयेषु यः कश्चित् गुरोराज्ञया पञ्चकामोपभोगादिना न रमति येनानुत्तरं प्राप्नोति । तद्विरहान्निष्केवलं विषयोपसेवामात्रया शून्यार्थं [75ᵃ] चरति । अथ शून्यमात्रं चरति न किञ्चिदेव साधयति । काकमिव वोहित-माक्रम्य समुद्रमध्यगत उड्डीयमानस्तत्रोत्तिष्ठति अन्यमाश्रयमपश्यन् पुनः

1. A. निर्ल्लज्जतया । 3. A. नउ । 4. A. अन्योक्तम् ; दृष्टान्तं ; आजीवन- । 5. A. तदाङ्गजारितः सो for तदाऽसौ । 7. A. जन्तूनां ; जरादिना । B. गृहीतेषु । 8. A. omits रस । A. सारित after जारित । 9. A. omits यावत् नातिरसं । A. -ऽमृत न करोति यैरजरामर । 10. A. यान्ती- । 11. A. धसा । 12. A. धम्म- । 13. B. तेन for -भेदेन । 14. A. नान्यमिति । 15. A. विसुद्धे । B. णो for णउ । 16. MS. वोहित्थ । A. पलुट्टिअ तहिँ । A. पतेइ । 17. A. गुर्वाज्ञया । 18. A. has सुण्ण चरेइ इति after निष्केवलं । A. शून्यार्थंश्च । 9. A. has यथा before काक— । 19. A. omits अथ to चरति । 20. B. उत्तीर्य्य मनया तन्मात् तिष्ठति ।

तत्रैव पतति। एवं बालजातीयाः संसारकर्म्मणा संसारे पतन्ति। अन्यः शून्यदर्शनात् तत्राश्रयणादिति तस्मात्—

विसआसत्ति म वन्ध करु अरे वढ़ सरहेँ वुत्त।
मीण पअङ्गम करि भमर पेक्खह हरिणह जुत्त। इति।

विषयासक्तिं पञ्चका[75ᵇ]मोपभोगादिना मा बन्धं कुरु। मया सरहेण यत्नेनोक्तं। यदि करोसि तदा मीनो मत्स्यो अशक्ताकामोदकमिच्छता प्रलयः। एवं पतङ्गो रूपाशक्तः प्रदीपेन प्रलयः। करिणः स्पर्शेण प्रलयः। भ्रमरस्य गन्धेन प्रलयः। तथा मृगयूथस्य शब्देन प्रलयः। स्वयं प्रेक्षतां। किन्तत् सर्व्वेषां रागपूर्व्वङ्गमेनोत्पत्तितया।

जत्त वि चित्तहि विफ्फुरइ तत्त वि णाह सरूअ।

तेषां यत्र चित्ते विस्फूरितं गमनं भक्षणादि कार्य्यं चिन्तितं [76ᵃ] तत्र नास्ति स्वरूपः। अज्ञातत्वादिति। कुतः। लुब्धककैवर्त्तादीनां विसंवादनात् एव कामिकपुरुषाणामज्ञानात् यमकिङ्करादिना मारिता भवन्ति। पुनरपि ग्रन्थकारेणातिकरुणावशादुक्तं—

अण्ण तरङ्ग कि अण्ण जलु भवसम खसम सरूअ। इति।

यथा नद्यां जलं सव तरङ्गो नान्यः तथा भवसमावशुद्धित्वात् शान्तिरूपमेव खसमरूपं नान्यः। एतेन किमुक्तं स्यात्। यो भवः सैव निर्व्वाणं सम्यग् गुरुप[76ᵇ]देशादिति ज्ञानिनां। अज्ञा न जानन्ति विषयं यान्ति। ईदृशं ज्ञानं—

कासु कहिज्जइ को सुणइ एत्थु कज्जसु लीण।
दुट्ठ सुरुङ्गाधूलि जिम हिअ-जाअ हिअहि लीण॥

3. A. **विशया-; वट; सरहँ।** 4. A. **पयगम; भमर।** 5. B. सरहेन। 6. A. रसासक्तमाकाशोदकमिच्छति। 7. B. भमरः। 8. A. प्रेक्षता। 9. A. -पूर्व्वगमनोत्-। 10. **विस्फुरइ; सरूव।** 12. A. लुवइ for लुब्धक। A. विसंवाद। 13. B. किङ्करादिका। 16. A. नद्या जलतरङ्गो नान्यथा भवः शमविशुद्धि-; 17. A. नान्यथा। 18. A. omits ज्ञानिनां। अज्ञा न। A. ज्ञानि नाम for A. विसयं। 20. A. **हिअ जातहिअ व-लीण।**

इति। परमगम्भीरं मार्गं कस्याज्ञानिनः कथ्यते। क्व इह स पुरुषः कथनयोग्यः को वाऽस्मिन् कार्य्येषु लीनो निपुण गृहीत्वा तत् पदं यान्ति न क्वचित्तयो पात्रमेवेति। विरलाः ते पुरुषपुङ्गवाः सुपात्राः। यथा क्वचिद्दुर्गभञ्जनाय भूम्यधो दूरतश्च सु[77ᵃ]रङ्गा दीयते। तत् सुरुङ्गिकानां गम्यं नान्येषु। कुतः तत्र सङ्कटखननाय अत्यन्तदुष्टधूलिर्भवति। यैस्तत्क्षणात् मरणं भवति स्वल्पहृदयानां। सुरुङ्गिकानाञ्च दृढ़तरहृदयत्वात् तेषां सा धूलिस्तद्धृदयेषु लीनो भवति। मृत्तिका च भूम्यां लीयते। प्रथमारम्भे किञ्चिद्दाह्यं त्यक्तत्वादिति। एवं पूर्व्वजन्माभ्यासिकानां तेषां महासंसारे च बोधिः सहृदयार्थमेवेति भावार्थः। तद् गुणाण्याह—

जत्त वि पइसइ जलहि जलु तत्तइ समरस होइ।
दोसगु[77ᵇ]णाअर चित्ततहा वढ़ परिवक्ख ण कोइ॥

यथा यत्र समुद्रेषु जले जलमिश्रितं भवति तत्र समरसतां याति। एवं संसारादिदोषगुणाश्च चिन्तिताः सपरिज्ञानस्य महर्द्धिकस्य पुरुषस्य प्रतिपक्षा न भवन्ति। कुतो दोषाश्च पञ्चकामादिगुणाः। तद्विशुद्धिकरणं नानागुरुवाक्यं [निरन्तरस्मरणात्। यथा नद्या जलं] निरन्तरप्रवाहात्। पुनरस्य स्पष्टतामाह—

सुण्णहिँ सङ्ग म करहि तुहु जहिँ तहिँ सम चिन्तस्स।
तिल-तुस-मत्त वि सल्लता वेअणु करइ अवस्स। इति।

[78ᵃ] निष्केवलं शून्यतासङ्गं मा करिष्यसि येनोच्छेदं भवति। त्वया यत्र तत्र स्वभावेषु वस्तुषु समतां चिन्तय नात्मन्येव। एवं आत्मानञ्च [परञ्च] विश्वसंग्रहमेकतां नाप्यसि [नानात्वाभावात्]। यदि करोसि आदोषं भवति। यथा तिलीयमात्रेऽपि वस्तुनान्तर्गतं। तस्य तुष [मध्ये कुकलङ्कभवति]। तत् सल्यं

1. A. क for क्व। 2. A. निपुणं; कश्चित् तस्य-। 5. A. अल्पहृदयानां। 6. A. -हृदयात्। B. भवन्ति। 7. A. त्यक्तादिति। 8. B. सपात्रमेवेति for सहृदयार्थ-। 9. A. **पइसइ।** 10. A. **दोषगुणा अर चिर तत्ता वट-।** 11. A. समरसता; omits याति। 14. B. omits the portion within brackets. 15. A. **चित्तस्स।** 16. A. **तिल तु समत्त वि सलत्ता…अवस।** 17. A. -च्छेदो। 19. A. omits -मेकतां नाप्यसि। 20. A. omits तस्य। 17-20. B. omits the portions within brackets.

भवति। तेन वेदनामवश्यं करोति। एवं योगीन्द्रस्य शून्यता चित्तमात्रेण शल्यं भवति। न सर्व्वाङ्गेषु सुस्थतां प्राप्यते। यदि तावत् शून्यमशून्यं द्वयमद्वयम्वा न भाव्यते [78b] तदा कीदृशं भाव्यतेत्याह—

अइसें सोपर होइ ण अइसों।

जिम चिन्तामणि कज्ज सरीसों॥ इति।

ईदृशं नीलपीताद्याकारमनुभवरूपम्वा उपलच्चणं भवति। [न तादृशं सोपलम्भनिरूपलम्भचित्ताचित्तकल्पनाद्वयं सर्व्वसाश्रयवीजाधाररहितरूपत्वात् कथं ज्ञायते इति चेत्।] चिन्तामणिरिव कार्य्यसदृशं भवति। यथा चिन्तामणिः सर्वं वस्तु न दृश्यते क्वचित्। पुनस्तेन हस्तगतेन सर्वकार्य्येषु चिन्तां करोति जड़भावाश्च। तथा यो[79a]गिनामपि गुरूपदेशः हस्तगतमणिमिव नेच्छया बुद्धत्वादि साध्यतीति भावार्थः। एवमजानानां पण्डितानां विहरणमाह—

अक्कट पण्डिअ भन्तिअ णासिअ।

सअसम्विति महासुह वासिअ॥ इति।

अक्कट इत्याश्चर्य्य पण्डितः वर्णमात्रमाश्रित्य भ्रान्त्या विनाशितो। न विनाशितेति यावत्। कुतः। यतः स्वसंवेदनं सर्व्वभावान्तर्गतं समोपलभ्यते। असंवेदनेति यावत्। तया भ्रान्त्या अनेन व्याख्यातेन चित्ताचित्तभावेन इदं स्वसंवित्तिलच्चणं महासुखेषु बाह्याङ्गनास्पर्शेषु भाषितं। पुनरपि तस्यैव बाह्यमहासुखस्य दृढ़तया व्याख्यानमुचुः—

सव्व रुअ तहिँ खसम करिज्जइ।

खसम सहावें मण वि धरिज्जइ॥ इति।

---

2. A. प्राप्नोति। 4. A. **तादृसो** for **अइसों।** 5. A. **कज सरीसो।** 6. B. -मनुभवरूपलच्चणं; the portion within brackets omitted in A. 8. A. कार्य्यैः for कार्य्य-। 9. B. पुनस्तया हस्तेन। 10. A. -मणिरिव। 11. A. साधयतीति; विहरण माह। 12. A. **भन्तिअ नासिअ।** 14. A. इत्याश्चर्य्यं पण्डितैः। A. भ्रान्तिर्नासिता। A. विनासितेति। A. -गैतसामाय लभ्यते। A. अनभ्याख्यानेन। A. तस्येव। A. स्फुटतरतय for दृढ़तया।

सर्व्वरूपादि विषयं यत् तस्मिन् खसमं क्रियते। मनश्च खसमस्वभावेन धार्य्यते। तदुक्तं—

सोवि मणु तहि अमणु करिज्जइ॥

सहज-सहावें सो परु रज्जइ॥ इति।

तथा सोऽपि खसमस्वरूपं मनं तस्मिन्मनं क्रियते। एवं य करोति स उत्तमपुरु[80a]षः सहज स्वभावेषु रज्यते क्रीड़ते इति यावत्। एवं

घरे घरे कहिअइ सोज्भुक कहाणा।

णउ परि मुणिअइ महासुह ठाणा॥

इतीदं कुत्सितधीयैः। गृहे गृहेषु सत्ववच्चनाय वदन्ति। ईदृशं शुद्धव्याख्यानं येन कथनेन लयाद्यप्रभृति शुद्धं भवति। तस्मादन्यदेव-तद्वादिकमपरं श्रेष्ठव्याख्यानं महासुखस्थायित्वमधिगमं कुरुष्व। तस्मात् भल्लापुराणमेवेति—तथाचोक्तं—

जलप्रपातानि पदानि पश्यतः

खपुष्पमाला रचनाञ्च[80b] कुर्व्वतः।

असूत्रकं चापि पटं प्रतन्वतः।

कथं हि लोकस्य न जायते त्रपा॥ इति।

कुत्सितानां दोषतया परिदेवनया सरहेत्यादि ग्रन्थकार आह—

सरह भणइ जगचित्तें वाहिअ।

सो अचित्त णउ केणवि गाहिअ॥ इति।

---

1. A. lacuna for यत् तस्मिन्। B. मनश्च। 3. A. lacuna for **सोवि मणु तहि**; MS. reconstructs as **जो तहिँ सो मण।** 4. A. **स्वभावें।** 5. A. मनस्तस्मिन् मनः। 7. A. **कहिटअइ; कहणा।** 8. A. **णो पर सुणिअ।** 9. A. इदं; कुत्सितधीभिः; कीदृशं for ईदृशं; तत्त्व for शुद्ध। 10. A. सुद्धं; -तद्वाहिक-। 11. B. महासुखस्थानीयत्वयानादिगम-। A. भल्लापुराण—। 13. B. प्रजातानि for प्रपातानि। 14. A. पश्यतः for कुर्व्वतः। 15. A. प्रवन्नतः। 16. A. जनायते for न जायते। 17. A. दोषं दृष्टान्तेन for दोषतया।

मूढपण्डितैः समस्तजगन्मूर्खलोकं चित्ताचित्तवहुप्रकारेणोक्तलक्षणया वाहितं दासीकृतं मदीयोपदेशेन तच्चित्तं त्यजसि [अचित्तरूपं प्राप्स्यसि]। न ह्येतत् भवति। कुतः। स अचित्तलक्षणं न केन चित्तविधिना ग्राहितं भवति। कस्मात् [81ᵃ] तर्हि कस्मात् अचित्तरूपस्य काष्ठपाषाणादिषु किं स्वसंवेदनं भवति। एवमचित्तरूपं किं लक्ष्यते। न लक्ष्यते इति यावत्। आदावेव तत् स्वभावत्वात् स च—

एक्कु देव वहु आगम दीसइ।
अप्पणु इच्छेँ फुड़ पड़िहासइ॥ इति।

एकदेवताकारं संज्ञामात्रेण स वह्वागमेषु स्वस्वदर्शनेषु च पश्यामः। सव चात्मनैवेच्छया स्फुटं प्रतिभासते। नान्यः। तथाचोक्तं श्रीमद्धेवज्रे—
स्वयं भर्ता स्वयं हर्ता स्वयं राजा स्वयं प्रभूः इत्यादि। स च—

[81ᵇ] अप्पणु णाहो अस वि रुद्धो।
घरेँ घरेँ सोअ सिद्धन्त पसिद्धो॥ इति।

आत्मात्मीयं नेच्छन्तीति विनाशो कुत्सितकल्पनाग्रहात्। पुनरप्यन्येषां भावानां निरोधकत्वात् विरोधोऽयं न स्यात्। स घरे घरे अयं सिद्धान्तं प्रसिद्धं। कुतः। उत्पन्नप्रलयत्वात्। यदि तावत् प्रलयं कस्योत्पादः। अथचोत्पादः किं प्रलयं तस्माद्द्वयोरसत्यं। तेन तत् तथोक्तं। ईदृशं विशिष्टयोगिनामाशयं भवति। कुत्सितं भगवत्यात्मनस्यैवं ज्ञानं गुरूप[82ᵃ]देशात्। यस्य नास्ति

1. A. लक्षणेन। 2. B. omits the portion within brackets. A. न हि तद for न ह्येतत्-। 3. A. omits स। 4. A. यस्य चित्तरूपस्य for कस्मात् अचित्तरूपस्य। 7. A. **एक्कु ; अङ्गम** for **आगम**। 8. A. **अपणु**। 9. A. स्वस्वदरशनेषु ; सेव। 10. A. प्रतिभाषते नाना। 12. A. **अप्पणु ; नाहो**। 13. **सिद्धान्त**। 14. A. नेच्छतीति ; विनासो ; कुच्छित। 15. A. निरोध- for विरोध-। A. omits अयं। 18. तत्स्थितानां भवत्यात्मन एवं ज्ञानं for कुत्सितं etc.

गुरूपदेशं तस्य न भवति। न हि [82ᵃ] एतद्बुद्धबोधिसत्वानां सम्मतः। तेषां भगवतोक्तं हेवज्रे—

मद्भवा हि जगत् सर्वं मद्भवं भुवनत्रयं।
मया व्याप्तमिदं सर्वं नान्यमयं दृश्यते जगत्॥ इति।

इदं कुत्सितानां दृष्टान्तमाह—

एक्कु खाइ अवर अस वि पोड़इ।
वाहिरेँ गइ भत्तारह लोड़इ। इति।

यदा कश्चित् अन्नाद्यभक्षणं करोति। एकमन्यस्तस्मिन् अन्नाद्यं प्रलयं कुर्वन्ति असाधारणत्वात्। तथा योगिनः एकपुरुषः भक्षयति। [82ᵇ] अन्यः पुनः भोक्तुमिच्छतां प्रलापेनापि वक्ष्यति। पुनरपि घरणि स्वसामिनं त्यक्त्वा गृहाद्बाह्यं गत्वा भर्त्तारं प्रेक्षत इति। अन्यो वहुचित्तत्वात् ज्ञानाकारेणैकीभावादिति। नेदृशो अज्ञानिना। एकेन सन्तुष्टिं करोति एकमात्रं जानाति न व्यापकः कुधियामपि तादृशं चित्तं तेन नष्टाः।

आवन्त ण दीसइ जन्त णहि अच्छन्त ण मुणिअइ।
णित्तरङ्ग परमेसुरु णिक्कलङ्क धाहिज्जइ॥ इति।

एतत् पूर्व्वोक्तगाहानुसारेण सुधियामपि ईदृशमाशयः कथ्यते। यथा घ[83ᵃ]रिणि स्वगृहे भर्त्तारं भोजयति अन्यस्यापि भर्त्तृभक्तादिं शोधयति स्वगृहान्निष्क्रम्य भर्त्तारं परीक्षयति तस्मात् आवन्तोऽपि न पश्यति गतोऽपि न च द्रक्ष्यति

1. A. सत्वाना ; A. सम्मत ; 4. B. नान्यं for नान्यमयं ; 5. B. कुच्छितानां। 6. A. **क्खाइ**। A. **योजइ**, MS. **पोलइ**। 7. A. **वाहिरे**, A. **लोजइ**, MS. **लोअइ**। 8. B. यथा कथञ्चित अन्याद्या- ; 9. A. एकपुरुषं ; 10. A. -मिच्छता ; वीक्षति ; 11. A. वहुवितत्वात्। 12. B. ईदृशी अज्ञानिनां। 13. A. तादृश, ते। 14. A. **आवन्त, दिस्सइ, जओणाह अच्छन्त ण मुणअइ**। 15. **-सरु, वोहि-** for **धाहि**। 16. A. ईदृशः मायामयः, B. ईदृशमासयः ; 17. A. भोजनं करोति after भोजयति ; A. घरणि।

स्वगृहे स्थितोऽपि न लक्षयति। ईदृशं ज्ञानं निस्तरङ्गं स्वेच्छया परमेश्वरं निष्कलङ्कं सर्व्वायासरहितं तस्य ग्रहणं करोति। अनेनोक्तेन किं स्यात्। इह क्षेत्रजादियोगिनीनां स्वाभाविकं ज्ञानं उत्पद्यते। सा च न किञ्चिद्वेत्ति। तन्मयात्मना पश्यति। मया कृतं मयैवोत्पादितमित्यादि विस्तरः। एवमे[83b]व गुरूपदेशात् अवगन्तव्यं। पुनरपि—

आवइ जाइ ण च्छड्डइ तावहु।
कहिँ अपुव्व-विलासिणि पावहु। इति।

आवन्ति गच्छन्ति न सा कुलघरिणी त्यजन्ति। एतत् प्रसिद्धं कामरूपपीठादिषु—यथा कश्चित् पुरुषः गृहे स्थित्वा तदन्यस्थानं गमयति अर्द्धमार्गात् पुनरागच्छति। तद्वत् योगिनोऽज्ञानप्रभावादिति। किमेतत् करोति कथ्यते। गच्छतोऽपि कस्मिन् स्थाने तत्रापूर्वविलासिनीसह सङ्गं प्राप्नोति। तदा मायया चित्तच्युतिं तेन करोति। या कुत्रापूर्व्वविलासिनी [84a] न प्राप्नोतीति यावत्। किं युक्तं इत्याह—

सोहइ चित्त णिरालं दिण्णा।
अउण-रूअ म देक्खह भिण्णा। इति।

तया योगिनीभिः सुखचित्तं शोभनीयं ललाटस्थाने दत्तमणिच्छाया गृहं ज्ञेया विज्ञानमभिन्नरूपतां यानि शरीरसुखयोरद्वयता भवति। एकरूपेति

2. A. सर्व्वापाय(स)रहितं ; A. ज्ञानं for ग्रहणं। 4. A. मयैवे(वो)त्यादि। 7. A. अपपुव्व ; A. यावहु for पावहु। 8. A. गच्छति। 10. A. पुनर्गच्छति। 11. A. -विल्लासिनी। 12. B. चित्ताकृति for चित्तच्युतिं ; A. तया भर्त्रा- for या कुत्रा-। 13. A. त for किं युक्तं। 14. A. लिरारे, MS. लिरारे for णिरालं। 15. A. भिन्ना। 16. A. ताभिः for तया ; A. दत्तमनिच्छया। 17. A. याति ; A. शरीरसुख-।

यावत्। अतएव वक्ष्यति। यथा—अउनरूपं नेत्रादि पृथकत्वेन स्थितं तया स्थितेऽपि न पृथक्रूपं द्रक्ष्यसि। कुतः। यस्मात् सूत्रबन्धनादि एकरूपत्वं भवति तस्मात् स्त्रीपुमान्रूपं [84b] पृथग् ज्ञानेनाविष्टं सूत्रवदपृथग् भवति। एवमेव योगिनां ज्ञानं स्वभावोत्थितञ्च। न तया कृतेति। तैश्च सर्व्वकार्य्यकारणं नेच्छया साधितं भवति। स च—

काअ-वाअ-मणु जाव ण भिज्जइ।
सहज सहावेँ ताव ण रज्जइ॥ इति।

अनेनैव ज्ञानं यावन्न पृथग् जनानां काय-वाङ्मनो भिद्यते द्रवीभवति गुरुप्रसादतः साश्रवधर्म्माणामस्तमन न भवतीति। तावत् तेषु सहजस्वभावेषु रज्यन्ति। येन योगिनीनयमनुत्तरं प्राप्यते। तत् किं योगिनीनयमित्याह—

घरवइ खज्जइ घरिणि-एहि ज[85a]हिँ
देसहि अविआर। इति।

घरपति यत्र देशे भक्षणं क्रियते। स्वघरणी च कृतमेतस्मिन् देशे पीठादिषु पश्यामः। ईदृशमविचारितं पृथगजनैरेतत् परिकल्पितं न योगीन्द्रैस्तेषां भावमाह—

माइए पर तहिँ कि उवरइ विसरिअ
जोइणिचार॥ इति।

1. A. वेषादि, HS. नेत्रादि। 2. A. तया, HS. तथा ; A. पृथकत्वं ; A. द्रक्ष्यति ; A. omits कुतः ; A. सुभवन्धादि। 4. A. तया HS. तथा ; सव्वकार्य्यकरणेच्छया, HS. -स्वेच्छया। 6. B. कायवाअमणु, A. कायवाकमन, HS. काय-वाक्-मन ; A. विभज्जइ। 7. A. सहावे। 8. A. विद्रवी-। 9. A, मनं। 10. A. has न before रज्यन्ति। 11. A. घरणि एहि, MS. घरणिएहि ; A. जहि। 12. A. देशहि अव्विआर, MS. देशहि अविआर। 13. A. घरवइ पति अत्र ; A. भक्षण ; A. स्वघरिणी। 14. A. -विचारं। 16. A. माइरे, MS. माइ रे ; A. परतहि ; MS. उवरइ ; B. विसरिस। 17. A. ज्जोइनि चार।

यत्र घरपति मारितं तत्र परस्य नास्ति उपचारः। किन्तु परत्रेषु कृतं उपचार परतरः योगिनीज्ञानरूपात्मकमेतत्। परैः कुत्सितैर्मारितं भक्षितं दृष्टं। चर्म्मचक्षुषा योगिन्या च न मारितं न भ[85ᵇ]क्षितं। अपि सहजमयं सहजात्मकं सहजे निलीनं कृतमिति भावः। तस्मात् विसदृशं सर्व्वशास्त्रेष लोकव्यवहारेषु योगिनीनामाचारः। एतदेव स्पष्टयन्नाह—

घरवइ खज्जइ सहजेँ रज्जइ किज्जइ राअ विराअ।
णिअ पास वइट्ठी चित्ते भट्ठी जोइणि मह्यु पड़िहाअ॥ इति।

घरपति भक्षिते सति सहजस्वभावेन रज्यते पुनरपि रागविरागं करोति अन्यभर्त्तारमाश्रयति रागविरागञ्च रुदति। पूर्व्वंभर्त्तारं शोचयति। निरस्य स्वप्रियस्य [86ᵃ] पार्श्वे स्थितेन च। एवं सा योगिनी चित्ते भ्रष्टा अचित्तमिव मम योगेन्द्रस्य वा प्रतिभासते। एवं समुदायो योगिनीज्ञानम-द्वितीयत्वात् न क्रियाकर्म्मतया प्रतिभासं करोति। कर्म्माकर्म्मायन्त्तेन न बाध्यते। सा पृथक्जनानां आभासमात्रमेवेति। अन्यच्च सर्वं चित्तोद्भूतं विकल्पमनया स घरपति स्वचित्तायत्तः शरीरः स भक्षितः। चित्तं शरीरं पीठोपपीठादिरूपं। योगिभ्यः प्रकृतयः। तन्निरोधात् प्रकृतीनां निरोधः। तदा किमुपलभ्यते। गुरूपदेशाज्ज्ञा[86ᵇ]नीयादिति। एवं विधायेदं परिभाष्यते।

खज्जइ पिज्जइ ण विचिन्तिज्जइ चित्ते पड़िहाअ।
मणुवाहिरेँ दुल्लक्खहरे विसरिस जोइणि-माअ॥ इति

2. B. वरतरः। 4. A. भावं। 5. A. वा after -व्यवहारेषु। 6. A. **सहजि**; A. **रसइ** for **रज्जइ**, A. omits **किज्जइ**, MS. reconstructs it as **णट्ठो**; 7. A. **णिल**; A. **वइट्ठो, चित्ते, भट्ठो**। 8. B. रक्षिते for भक्षिते। 9. A. -विरागश्च। 10. B. नि॰स्य for निरस्य। 11. B. मया। 12. B. -कर्म्माकर्म्म तेन; A. परिभाषये। A. **न**; A. **चिन्तज्जइ**, MS. **निश्चिन्त जइ**; A. **पड्डिहाइ**; A. -**बाहिअ**; A. C. -**हले**; A. **विसरिअ**।

यत् किञ्चित् खादयन्ति पिबन्तीत्यादि कर्म्म क्रियते स च यं यं चित्तेन प्रतिभासते तं तं कुर्य्यात् किन्तु मनवाह्यि न क्रियते। किं युक्ति दुर्लक्षेण योगिनीज्ञानवन्तस्य लीनं पूर्ववत्। विसदृशयोगिणीमार्गस्तदाश्रितेन सर्वं सुखं भवतीति नान्यथा। पुनराह—

इअ दिवस णिसहि अहिमणइ[87ᵃ⁻ᵇ]तिहुअण जासु णिमाण।
सो चित्तसिद्धि जोइणि सहजसम्वरु जाण॥ इति।

एवं यः दिवसं जानाति रात्रिञ्च अभिज्ञानमयं त्रिभूवनं यस्य निर्म्माणं सो चित्तसिद्धिः योगिनिसहजसम्बरज्ञानं भवति साक्षात् करोति वा। एवम-जानानामाह—

अक्खर वाढ़ा सअल जगु णाहि णिरक्खर कोइ।
ताव सेँ अक्खर घोलिआ जाव णिरक्खर होइ॥

इति अक्षरेषु सकलजग बाध्यते। इदं त्वया इदं मया अथवा इदं लटं इदं पटं पण्डितैरुक्तं। यावज्जीवं क्रियते न परमार्थं न किञ्चित् साध्यते। निरक्षरः [कोऽत्र विद्यते येन बुद्धत्वं साध्यते]। तावत् सैवाक्षरं घोलितं परिभावनाया वाग्जालं समस्तमहिंतं अलीककृतं यावत् निरक्षरत्वं याति। यावत् नेवं कृतं यावत् किं परमपदं प्राप्नोति। किं तदाह—

जिम वाहिर तिम अवभन्तरु।
चउदह भुवणेँ ठिअउ णिरन्तरु॥ इति।

From the last verse till the end of the Text I have MS. C. for the verses. 3. -ज्ञानन्तस्य; A. -स्तदाश्रतेन; B. स्तदाश्रतेन। 5. A. C. **दवस**; A. **तिहुमण, णिमाण**; MS. **तिहुमण**। 6. B. **चिन्त**; A. **वंसरु**, HS. **संवरु**; B. **जानु**। 11. A. **घोलिजा**; C. **घोलिअइ**; A. **णिरक्षर**। 12. A. has अति after इति; B. जगं। 14. A. omits portion within brackets; 17. A. **वाहिरे**; **अवभन्तरु**; C. **अवभन्तकरु**; 18. A. **चउजह, णिरतरु**।

योगीन्द्राणां यादृशं बाह्यं तादृशमभ्यन्तरं। किं तर्हि ज्ञानाकारत्वात्। तैस्त्रचतुर्दशभुवनेषु निरन्तरावराग्रेण स्थितं परमकलाभावात्। स च योगी अमावास्यान्तेन चन्द्रकलामिवाशरीरत्वात्। तेनाह—[88[a-b]]

असरिर [कोइ] सरीरहि लुक्को।
जो तहि जाणइ सो तहि मुक्को॥ इति।

अशरीरं सत्त्वं साक्षादस्तमितं भवति लुक्को स येन ज्ञानं सो तस्मिन् मुक्तोभवति। कुतः। यतः प्रत्यात्मवेदको लोकः। वेद्यज्ञादादिव नोत्पन्न-शरीरत्वात्। निराकारं ज्ञानमेतत्। तस्य संज्ञा सुखप्रवृत्तिः। तदमृतं सहजमिति। पुरुषपुद्गलानां सहजात् पूर्वोत्पादविनाशकाले तत्रैव लीनः सुखस्य स्थिति नास्ति अस्थानत्वात्। तस्मात् पुर्वभावं निराकारं ज्ञानं तस्यैव धर्म्मधातुरिति आदिसंज्ञा। एवं यो जानाति गुरूपदेशात् स इहैव जन्मनि अनेनैव शरीरेण मुक्तो भवति नान्यथेति। अनेनोक्ते सति ग्रन्थकारस्य तत्परिणामतया स्वपरवस्तु न पश्यति तेनेदमुदीरयन्नाह

सिद्धिरत्थु मइ पढमे पढिअउ।
मण्ड पिवन्तेँ विसरअ एमइउ॥
अक्खरमेक्क एत्थ मइ जाणिउ।
ताहर णाम ण जाणमि ए सइउ॥ इति।

2. B. निरन्तरा अनवराग्रेण; सरीर; 88[a-b] of B. missing, A. omits कोइ; MS. असरीर सरीरहि [णाहि] लुक्को। 8. A. सरीरत्वात्। 15. A. पिवत्तेँ, A. विशमइ which MS. restores as विसरिअउ मइँ; C. सरिअ; 16. A. अक्खर-; जाणउ; जाणउ; A. एसहि; MS. ए सहि।

यथा बालत्वे त्वादावेवा[89[a]]क्षरशिक्षणायोपाध्यायस्याग्रे फलकेषु सिद्धिरस्तु इत्यादिना यावत्सूत्रधात्वादिव्याकरणपर्यन्तं तर्कमीमांसादि सर्वं पठितं तदा सर्वाक्षरेषु न किञ्चित् फलं दृष्टमज्ञानत्वात्। पुनरपि सकल्याण-मित्राराधनायां सत्यां परिज्ञानेन विचारितं यः प्रथमं वाक्यं सिद्धिरस्त्वीति स सत्यं तत्परं यत् मया पठितमन्याक्षरमसारं। यथा भक्तरन्धनायां सारं गृहीतं मण्डं समयी पीत्वा शेषमसारमण्डमेव सारं तं पीत्वान्यं वि[89[b]]सृतं गृहीतः सिद्धिरस्त्विति। एतदेवाक्षरमेकं पूर्वोक्तज्ञानमिह मया ज्ञातं। तस्मिन् वामस्य नामं न जानामि कीदृशमिति अवाच्यत्वात्। यथा बालत्वे नार्थस्त्वेष्ति सिद्धिरस्तु च। तथाप्यसौ प्रौढत्वेऽपि च। नास्ति नामवर्नादिख्यातिः। अन्ये कुधियाः न जानन्ति तेषां आह—

रुअणेँ सअल वि जोहि णाए गाहइ।
कुन्दुरु-खणहि महासुहे साहइ॥ इति।

सहजरूपणेन सकलत्रिभुवनपतितं न ग्राहितं स्वयंभूज्ञानाकारेण च अवाच्य[90[a]]नामिव वा। तदा पुनरपि स्वयं नष्टा परानपि बन्धायन्ति। किं तत्। कुन्दुरुक्षणेषु महासुखं साधयतीति। तस्मात् ते मूर्खदेहिनः। पुनरप्याह—

जिम तिसिओ मिअ तिसिणेँ धावइ।
मरइ सोसोसहिँ णभजलु कहिँ पावइ॥

2. A. -धातु व्याकरण-। 3. स्वकल्याण-। 4. A. -मित्राधारणायां; A. विचारितयः। 6. A. गृहीतमण्डसमयी, HS. गृहीतमण्डं रसमयी; A. तं पीत्वा अन्यत्। 7. A. गृहीत। 8. A. अन्यमन्यन्नाम for वामस्य नामं 10. A. रक्तधियो न जानन्ति B. कुधियैः न जानतं। 11. A. रुअणे; A. वि जो णउ। 12. A. कुदुरु-क्षणइ। 13. A. त्रिभुवनं। 17. A. तिसि तिसिअणे यावइ, MS. तिसिअ तिसिओणे। C. तिसणे; 18. A. मर सोसेन भज्जलु कहि— MS. मर सोसे।

यथा तृष्णार्त्तः अतितृष्णया अन्धत्वेन पानीयं दृष्ट्वा धावति तदा चक्षुषा नीहारमात्रं न पाणीयं तदार्त्ततया सोसेन श्रूयते। आकाशजलं कुतः प्राप्यते न प्राप्यते इति यावत्। एवमिव कुन्दुरुयागेन [90b]तत्त्वं न प्राप्यते। मूढ़लोकैरेवं तत्त्वं क्व ज्ञेयं किं युक्तिर्वा एतदेवाह—

कन्ध भूत्र-आअत्तण-इन्दीविसत्र-विआरु अप हुत्र।
णउ णउ दोहाच्छहे ण कहवि किम्पि गोप्प ॥ इति।

स्कन्धधात्वायतनेन्द्रियविषयविकल्पविभ्रमरूपं पश्यति। यत्र लक्ष्यं लक्षणञ्च न विद्यते तेषु सर्वथा मरीचिजलवद्विश्वमुदकसंज्ञा प्रतीयते। उदकभावञ्च नास्त्येव मरीच्याभाससंज्ञया। मरीचिभ्रान्तिमिव हि उदकस्याभासं प्रतीयते इति। तस्मात् [91a] नवनवान्यान्य दोहाशब्देन तत्त्वं दर्शितं। तस्मिन् दोहामध्ये कस्मिन् दोहेषु किञ्चित् गुप्तं न कृतं गुरूपदेशं न विनाशितं स्यादिति। एतदर्थं सर्व्वेषां पण्डितानां क्षमापयतीत्याह—

पण्डित्र लोअहु खमहु मह एत्थु ण किअइ विअप्पु ॥
जो गुरुवअणेँ मइ सुअउ तहि किं कहमि सुगोप्पु ॥ इति।

हे पण्डितलोक ईदृशं ज्ञानं गुप्तागुप्तं मया कथितं तथा मम क्षमां कुर्व्वसि। कुतः। यतः सुगुप्तस्थाने न गुप्तीकृतं तथा गुप्तस्थाने प्रकाशितं सत्वोपकार[91b]चेतसा तेनेदं विकल्पं न कार्य्यमेवञ्च सम्मतं। ममैकाकिनस्य न भवति। कुतः। यतः ममापि स्वगुरोः सकाशात् यद्वचनमीदृशं श्रुतं तत् किं करोति सुगुप्तं प्रकटञ्च। एवमुक्तेन किं स्यात्। भव्यसत्त्वेषु गुप्तमिति। एतदेवाह—

1. B. अतितृषया ; B. दृष्टं। 2. A. पायं ; B. आर्त्तया, B. सोसे ; B. कुत्र। 3. B. omits न प्राप्यते ; A. योगे। 4. A. आअतन इदो, B. विआमिरु। A. अ पहुअ ; 6. A. -च्छेदे, MS. सहेन ; B. कह ; किंपि। 7. A. लक्षं। 8. B. विद्येत् ; A. मरीचिजाल-। 9. A. भ्रान्तिरिव। 10. A. भासः। 11. A. गुरूपदेशेन। 13. A. एत्थ ; 16. A. करोषि ; A. -ऽप्रकाशित। 17. A. विकल्प ; A. एकाकिनो ; 18. स्वगुरुः। C. omits the last two verses.

कमलकुलिस वेवि मज्झठिउ जो सो सुरअ-विलास।
को त रमइ णह तिहुअणे हि कस्स ण पूरइ आस ॥ इति।

अनेनात्यन्तादिकर्म्मिकाणां मृदुयोगिनां वा रागासक्तानाञ्च महारागक्रो[92a]डेणैव बुद्धत्वमुपाय इति दर्शितं भगवता। तथा इह मया अवतारितं कमलकुलिशद्वयेषु यत् सुरतविलासं को वीरपुरुषस्तत्र रमति। तेन त्रिभुवने कस्य न पुरित आसः। सर्व्वेषां तन्मयत्वेन तत्स्वभावतया सर्व्वासां महामुद्रा-सिद्धिः पूरिता भवति। महाकरुणाया आमुखीकरणादिति नियमः। किन्तु अधिमात्रेन्द्रियाणां नेदृशः। किं तदाह—यदि कमलकुलिशेन तत्त्वं तदा आत्मना सुखमुत्पाद्य परस्य सुखानुभवं विना गते [92b] न सर्व्वत्रिभुवनस्य सा पूरिता भवति। बुद्धज्ञानमेवेति। तस्मान्न तादृशं बुद्धज्ञानैकक्षणे अभिसम्बोधिः सर्व्वेषां समानकालत्वात् संक्षेपतः।

खण उवाअ सुह अहवा अहवा वेण्णि वि सोवि।
गुरुपाअ-पसाएँ पुण्ण जइ विरला जाणइ कोवि ॥

क्षणञ्चेदं सुखस्य चतुःक्षणभेदात्। अथवा अभिन्नेऽपि क्षणे तत्त्वमुपलक्षयेत्। स च परमविरमयोर्मध्ये अभिन्नमेव। प्रथमारम्भे विचित्रादिक्षणे उत्पादनायाऽभि[93a]न्ने सहजभावं सैव गुरुपादप्रसादेन पुण्यवशात्। यः कश्चित् तत्त्वविरलो लोकः जानाति क्वचिदिति न सर्व्वसत्वेषु साधरणत्वं भवति। तेनेदं मया सद्गुरूपदेशेन व्यक्तीकृतं पूर्व्वोक्तन्यायात्। सर्वजनेषु साधारणमिति। एवञ्च—

1. A. कुलिश ; व्यवि ; 2. C. तेँ ; A. रमइण, B. रमइणेँ, C. रमइ णह ; B. तिहुवणे ; A. omits हि ; C. तिहुवणहि ; A. पूरअ, C. पूरिअ ; 4. A. बुद्धत्वोपाय ; A. has भवति after दर्शितं ; 5. HS. inserts न before रमति ; 9. B. सुखोत्पाद्य ; B. सर्वं ; 10. B. भवन्ति ; 12. A. खणउ वाअ ; A. omits one अहवा ; A. विस, सोवि ; 13. C. गुरुअ पसाएँ HS. गुरुह- ; A. जानइ कोइ ; 14. B. चक्षश्चायं। 15. B. इति भिन्नमेव। 17. B. विरला ; A. सारत्वं for साधारणत्वं।

गम्भीरइ उश्रारहणेँ णउ पर णउ अप्पाण।
सहाजन्देँ चउट्ठक्खण णिअ सम्वेअण जाण॥ इति।

यत् पुण्येषु विरला लोका जानन्ति तत् गम्भीरस्य विचारवलेन निरन्तर-स्मरणतया पक्षापक्षं निरुध्यते। [93b] परमगम्भीरे तत्र न परं नात्मनः किञ्चिदस्ति। आदावेव रहितत्वात्। ईदृशं सहजानन्देन चतुर्थक्षणे लोककल्पितमध्ये निजसंवेदनं जानासि। पुनरपि तां जानाति स एव हि। अस्यानुशंसामाह—

घोरान्धारेँ चन्दमणि जिम उज्जोअ करेइ।
परममहासुह एक्कुखणे दुरिआसेस हरेइ॥ इति।

इह घोरान्धकारमध्ये चन्द्रकान्तमणिरुद्योतनं करोति। यादृशः सर्वं-चौर-चण्डालादिभिर्हरति। तादृशः परममहासुख एकक्षणे [94a] संसार-दुश्चरिताशेषं करोति। तथा—

दुक्ख दिवाअर अत्थगउ ऊवइ तरवइ सुक्क।
ठिअ णिम्माणेँ णिम्मिअउ तेणवि मण्डल-चक्क॥ इति।

यथा ग्रीष्मकालदुःखदिवाकर अस्तमितो भवति तदा अत्यन्तशीतलत्वं करोति। तारागणनायकश्चन्द्रः शुक्रश्च उत्थितो भवति। ईदृशमण्डलचक्रादि-

1. A. घंभीरइ, नउ, अध्याण; 2. A. सहजानन्दे, -क्षणे, संवेसअ; 4. B. स्मरणया; A. नपरं; 5. A. चतुःक्षणे; 6. A. जानामि; ताम् for तां; 8. A. घोरेन्धारे, C. धोरेँ धारेँ; 9. A. एखुक्खणे दुरिआशेष; 10. A. इति यथा for इह; A. यादृश—; 11. A. तादृशः; 13. A. दुःक्ख दिवअर अत्थवि उठ्ठ तारावइ; C. अत्थविउ उइ; 14. A. विज्जा निमाणे निम्मिअउ; C. ठिअ णिम्माणेँ णिअउ; A. has सो after तेणवि; 16. B. ईदृशं।

भावना क्रियते। येन निर्म्माणस्थितेन विश्वं बुद्धसंवृत्या निर्म्माणं निर्म्मिणोति। तत्स्वरूपमण्डलचक्रं विज्ञेयादिति भावार्थः। पुनर्यो[94b]गिनां कर्त्तव्यमाह—

चित्तहिँ चित्त णिहालु वढ़ सअल विमुच्च-कुदिट्ठि।
परममहासुहे सोज्झ परु तसु आअत्तासिद्धि॥ इति।

इति चित्तेन चित्तं त्वं विचारयसि। किन्तु चित्तं अचित्तं चास्ति। पूर्व्वोक्तन्यायादेव द्वयोर्नास्ति। तथाचाह—

चित्तमेवेह नाचित्तं द्वयाभावान्न किञ्चन।
न किञ्चिन्नाम विद्येत भ्रान्त्या सर्व्वमिदं जगत्॥

तस्मात् सर्व्वं कुदृष्टयः मुञ्चसि त्यजसि। सकलात्मजीवपुरुषपुद्गलादयः सर्व्वं कुत्सितलोकव्यवहारसंवृतमात्रमेतत्। तेन तत् तथो[95a]क्तं। एवं सर्व्वं परममहासुखेषु शोधनं कुरु। येन परमभूमिलोकोत्तरबुद्धसम्वृतेषु प्रवेशं करोति। तस्य परश्रेष्ठसिद्धिरायता भवति। तेनेदं—

मुक्कउ चित्तगएन्द करु एत्थ विअप्प ण पुच्छ।
गअण गिरीणइ जल पिअउ तहिँ तड़ वसइ सइच्छ॥

इति मुक्तचित्तगजेन्द्रं कुरु। यथेच्छया संसारमध्येषु क्रीड़नं कुरु। अस्येदं विकल्पं न पृच्छसि। कुतः यतः सर्व्वं भावस्तत्त्वात्मकास्तत्त्वाश्रिताः न..त्वेषु निलीनाः भवन्ति। किन्तु प्राणातिपातादिकुकर्म्मं वर्ज्जसि। ये-

1. A. बुद्धसंस्थित्या; B. निर्म्मिनोति; 3. A. C. चित्तेहि; A. निहाखु; C. णिफालु (?) C. वट्ट; A. विमुच्चह दिठ्ठि; 4. A. तसुआ अत्ता सिद्धिः; C. -सुह सेज्झ परु तेहि अत्ता-; 5. A. विचारय (असि); 6. A. -न्यायादितयो-; 7-8. HS. takes it to be a *dohā*; 9. A. सर्व्वकुदृष्टीमुञ्च; 11. A. परस्रेष्टसिद्धिरासन्ना; 13. C. म for ण; 14. A. तहि, B. तट; C. तड़; A. वसउ; 16. A. विकल्प।

स्तीर्थिकादि नरकं यान्ति कारुणिकैश्च दशकुशलकर्म्मपथपरिपालनया सर्व्वं सुखं भवति। तेन गगनगिरिणा हस्तिवत् सर्व्वव्यापकत्वेषु नद्यां जलं पिबन्ति। यः पुरुष यतः तस्मिन् तटेषु महासुखनद्यां शोषयति। इदं महासुखेऽपि विकल्पमात्रं तस्या सङ्गमिति भावार्थः।

विसअ-गएन्दें-करें गहिअ जिम मारइ पड़िहाइ।
जोइ कवड़िआर जिम तिम तहो णिस्सरि जाइ॥

तथा विषयगजेन्द्रेषु चक्षुरादिषु सर्व्ववस्तुषु गृहीत्वा इन्द्रियविषयादिभिः करेण ग्रहणमिव दन्तिना तदा मारणमिव प्रतिभासते। [यावत् प्रतिभास्यति तावत् कस्य विषयिणस्य च] स्वभावमेतत् तस्यैव दृश्यते। न मारणं क्रियते नरकादिषु नीयते। ईदृशं योगीन्द्राणां कवड़ीकाराद्यैर्यादृशं प्रतिभास्यति। तादृशमिव ततो निःसरित्वं गच्छति। सहजेषु प्रलीयते। न कवड़ीकाराद्याः तस्य बाध्यते लोकस्य प्रतिभास एवेति। [96b] एवं भक्ष्यभक्ष्येषु न लिप्यते इति यावत्। तथाचाह—

जो भव सो णिव्वाण खलु स उण मणहु अण्ण।
एक्क सहावें विरहिअ णिम्मल मइँ पड़िवण्ण॥ इति।

नास्ति योगिनः विशेषाद्विशेषः संक्षेपः। यथा युगनद्धक्रमेषूक्तमार्य्य-नागार्ज्जुनपादेन भव्वनिर्व्वाणेत्यादिना च इह एतदेव यत् भवनिर्व्वाणं खलु

1. B. -परिपालनाया; 2. A. सर्व्वव्यापकेषु; 3. A. पिबति; A. यतोऽस्मिन्, नद्या। 5. A. विषअ गजेन्दे कर; जणि for जिम; पड़िहासइ; 6. A. जोवि, कवाड़आर; C. कवड़िआरमणिच्चह-; A. हो णिसरि; 7. A. विषये; 8. A. सारण- for मारण-; A. has व्रतिनं कुरु तावत् before प्रतिभासते-; A. has for the portion in bracket only- तावकस्य विषयिणश्च; 10. A. कीदृशं; प्रतिभासते; 11. A. निःसारितं, B. प्रलीयतः; A. -काराद्याः; 14. A. निवाण खलु भेवु न मणहु पण्ण; C. खलतेउ ण मणहु मण्ण। 15. A. एकसहावे, निम्मल मइ; 16. A. योगिना; इहापि तदेव;

सर्व्वेषां द्व द्वयवचनेषु मविज्ञेययुगनद्धद्वयं तच्च भेदमन्यं विज्ञेयादिति। किं तर्हि एकस्वभावेन यदद्वयं सर्व्वशास्त्रेषु सिद्धान्तं तत् तस्मादवि[97a-b]रहितं एकानेकभावं। किन्तु अद्वयोऽपि निर्म्मलः प्रतिपन्नः परमाद्वयमिति भावः। एतदेव स्पष्टार्थमाह—

घरहि म थक्कु म जाहि वणे जहि तहि मण परिआण।
सअल णिरन्तर वोहि-ठिउ कहिँ भव कहिँ णिव्वाण॥

इत्यनेन स्वगृहेषु स्थितिं मा कुर्व्वन्ति। वनान्तरमपि गमनं मा कुरु। किं तर्हि निश्चितं द्वयस्थानेषु गम्याद्विकल्पं जायते। कथं क्रियते इत्युच्यते। यस्मिन् यस्मिन् स्थित्वा वा चंक्रमणभक्षादिं कृत्वा तत्र मनस्य परिभावनं कुरु अलोकं मनः स च विज्ञप्तिं कुरु। तच्च पूर्व्वं निराकृतमसिद्धतात्। तस्मात् सकलत्रैधातुकेषु निरन्तराव्यवच्छिन्नप्रवाहात् बोधिस्थितं सिद्धं। न केनचिदुत्पादितं स्वयम्भूत्वात्। तदिह कुधीभिः मूढ़त्वेन परिकल्पितं भवनिर्व्वाणयोरद्वयोः केनेदं न स्यात् उक्तन्यायादपि। तस्मिन् भवं तस्मिन् निर्व्वाणं न भवति। कुतः। यतः आदावेव विश्वस्योत्पादं नास्ति तत् किमिति दृश्यते। मायावदिति भ्रान्त्या प्रतिभासमात्रमेवेति। यथा दर्पणादिषु प्रतिविम्ब दृश्यते तद्विचारान्नोपलभ्यते। तत् विम्वपिण्डपरमाणवत्वादिभेदेनासम्भवमिति। कस्माद् भवनिर्व्वाणयोरसम्भवं। तथाचोक्तं—

निर्व्वाणञ्चैव लोकञ्च मन्यन्ते अतत्त्वदर्शिनः।
नैव लोकं न निर्व्वाणं मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः॥
निर्व्वाणञ्च भवश्चैव द्वयमेतत् न विद्यते।
परिज्ञानं भवस्यैव निर्व्वाणमिति कथ्यते॥

1. A. द्वयद्वयवचनेषु, भेदमन्य-; 2. A. किन्तु ह्येकस्वभावेन; B. य य शास्त्रेषु; B. 97a-b lost. 5. A. वने, तँहि; C. जाहु; 6. सअलु, निरन्तर, कहि, निवाण; C. कहि; 7. A. गर्भा- for गम्या; 9. A. चक्रमण-; 16. A. पिण्डपरमाणवन्धादिभेदेनासम्भवमिति; 17. A. -सम्भवः; 20. द्वयमेव।

तस्मात् सिद्धं परमाद्वयं बोधिरूपं स चाह—

णउ घरे णउ वणेँ बोहि ठिउ एहु परिआणहु भेउ ।
णिम्मलचित्त-सहावता करहु अविकल सेउ ॥

इति । इदं उपलक्षणायां न घरे न वनेषु बोधि स्थि[98^{b}]तं । एवं भेदं परिजानासि सन्ध्याभाषान्तरेऽपि गृहं शरीरं वनं घटपटादिषु तत्र न बोधिः । कुतः सर्व्वं ह्यसम्भवात् । एवं भेदं यत् दृश्यते लोकादि तत् सर्व्वं उत्पन्नविनाशिनः । नेदृशो बोधिरविनष्टत्वात् च । तेनेह निर्म्मलचित्तस्वभावतां कुर्व्वति । यैर्विकल्पना विकल्पसि समस्ता सङ्गता त्यजसीति विस्तरः । तैर्बोधिरूपमायाति तदाह—

एहु सो अप्पा एहु परु जो परिभावइ कोवि ।
तेँ विणु बन्धे वेट्ठि किउ अप्प विमुक्कउ तोवि ॥ इति ।

[99^{a}-101^{b}] इदमात्मा न इदं परः येन केनचिद्विपरिभावितं तेन विना बन्धनेन आत्मानं विटकितं विकलीकृतं मुक्तोऽपि स्वभावयातं तदा नो मुक्तः तस्मात् स्वपरविभागं न क्रियते इति यावत् । तदिह—

पर अप्पाण म भन्ति करु सअल णिरन्तर बुद्ध ।
एहु से णिम्मल परमपउ चित्त सहावेँ सुद्ध ॥ इति ।

2. C. सउ ; A. वने ; परिआणउ ; 3. A. सहावउ, A. करह, C. करहि ; A. C. अविक्कल ; 4. B. उत्तलचणायां ; 8. A. कुर्व्विति ; 10. C. स ; A. अध्या, पर, कोइ । 11. A. ते ; C. वेटि किउ, A. वन्धि किउ ; C. विमुक्कवि ; 12. B. *folia* 99^{a} -101^{b} lost. 15. A. भत्ति ; C. भन्ति ; A. निरन्तर ; 16. A. सो ; C. से ; C. सहाव ।

परश्चात्मनश्च एकस्वभावं न द्वयरूपेण भ्रान्तिं कुरु किन्तर्हि सकलसत्वधातुनिरन्तरादावेव स्वभावेन शुद्धः तदादावेव परिभावनयानन्तकमलाप्लुता न बुद्धात्मानं परिभावयन्ति । एवं द्वयरहितेन बुद्धः सः निर्म्मलं परमचित्तं स्वभावतोरूपं बोधिचित्तं स्वभावरहिततया—

अद्दअ चित्त-तरुअरहु गउ तिहुअणेँ वित्थार ।
करुणा फुल्लीफल धरइ णाउ परत्त उआर ॥ इति ।

उक्ते सति परोपकारं सूचयति यदद्वयं चित्तं योगिनां तद्धरन्तु भवराजः । कल्पवृक्षमिव सर्व्वगतत्रिभूवनविस्तारः । सर्व्वं परमाद्वयमिति भावः । तस्य करुणापुष्पफुलितेन तत् फुल्लं भवति । नानेन स परोपकारः । सर्व्वेषां सर्व्वासां शुद्धत्वादि परिपूरयति । इति ते तया ॥ सु * * *

[सुण्ण तरुवर फुल्लिअउ करुणा विविह विचित्त ।
अण्णा भोअ परत्तफलु एहु सोक्ख परु चित्त ॥
सुण्ण तरुवर णिक्करुण जहि पुणु मूल ण साह ।
तहि आल मूल जो करइ तसु पड़िभज्जाइ वाह ॥
एक्केम्वी एक्केवि तरु तेँ कारणे फल एक्क ।
ए अभिण्ण जो मुणइ सो भवणिवाण विमुक्क ॥

5. A. अद्दअ ; C. अद्दअ ; A. तरुरुअर ; C. तरुवरह ; C. तिहुवण ; 6. A. फुल्लिअ फल ; A. णामि ; A. परजआर ; C. परत्त उआर ; 10. A. सुद्धत्वादि, तेतया । 10. A.—the rest lost. The dohās which follow within the brackets are preserved in C. only. 16. C. आभिण्ण ; सुणइ ।

जो अत्थीअण ठीअउ सो जइ जाइ णिरास ।
खण्ड सरावेँ भिक्ख वरु च्छड्डहु ए गिहवास ॥]

* * * [102a] पाड़्यादिति । मनसि विहाय तदा सत्वेषु करुणावन्तः यस्मादायाति । यः कश्चिदर्थिनः स[: यदि] निरासं याति मया लोकेन किञ्चित् दत्तं । तदा येन किञ्चित् सिद्धं भवति । तस्मात् [त्वं] खण्डसरावेति [भि]चां करोसि । न भोगासक्तं भवसि । त्यजसि वरमिदं गृहवासं । य[थाचोक्तं]—

पर उआर ण कीअउ अत्थि ण दीअउ दाण ।
एहु संसारे कवण फलु वरु च्छड्डहु अप्पाण ॥ इति ।

किन्तेन भोगेन गृहेन वा क्रियते यतः परोपकारं न भवति । अस्ति……… [102b]णादि वस्तुदान न दीयते । तच्च तेन धनेन एवं इदं संसारे स्थितत्वात् किं फलं भवति न भवति [याव]द् वरमिदं आत्मानं त्यजामः । कायजीवितनिरापेक्षे न विहरिष्यामीति .. । [समाप्तो]यं दोहाकोषस्य पञ्जिका विषमपदभञ्जिका । दोहा अभिप्रष्टवचनस्येति । तेनेदं कोषिताच्छादिताः तत्त्वं । बालजनेषु विस्मयोक्तमिति ॥*॥

कृत्वाचेयं मयाऽस्य(?) पञ्जिका चात्मबोधिनी ।
नाम्नापि सात्मवेधी च गुर्व्वाम्नायप्रकाशिनी ॥

अन्याश्च ईर्षपेत्वा [...मौ]ण्यपि कुरु ।

स्वार्थं वापि परार्थं वा साधितं मे शुभं यतः ।
तेन पुण्येन लोकोऽस्तु ज्ञान भूमिः स्वयम्भुवः ॥

समाप्तेयं दोहाकोषस्य पञ्जिका । ग्रन्थप्रमाणमष्टशतमस्य । कृतिरियं श्रीअद्वयवज्रपादानामिति ।]

2. C. has त्यतहु which should be corrected as च्छड्डहु ; 3. 102a-b preserved in B and C only. 7. C. दीसउ ढाण ; which should be corrected as दीअउ दाण । 8 C. संसारें । 8. The colophon of C. occurs after this verse as—सरहपादीअ दोहाकोसः समाप्तः । B. seems to have ended on this page. 17. The portion within brackets occur on the last page of A.

काण्हपादस्य दोहाकोषः

ॐ नमो वज्रधराय ॥

लोअह गव्व समुव्वहइ हउ परमत्थे पवीण ।
कोड़िह मज्झेँ एक्कु जइ होइ णिरञ्जण लीण ॥१॥

अस्यायमर्थः । लोके गर्व्वं समुद्वहति । कोऽसौ गर्व्वोऽहं परमार्थप्रवीण इति एतच्च यावत् संभवन्तु युज्यते । ततो योगिकोटीनां मध्ये एकोऽपि यदि भवति निरञ्जनलीन इति । निर्गतानि अञ्जनानि रागद्वेषादिक्लेशा अस्मिन्निति निरञ्जनः सहजकायः तत्र लीनो निमग्नमना योगीन्द्रः स च मादृश इति भावः ॥

आगम-वेअ-पुराणेँ पण्डिअ माण वहन्ति ।
पक्क सिरिफले अलिअ जिम वाहेरित भमन्ति ॥२॥

अयमर्थः । बाह्यागमादिज्ञानेन परमार्थसत्याभिमानं पण्डिता वहन्ति । एवम्भूताः सन्तः कस्मिन् किं कुर्व्वन्तीत्याह—पक्वश्रीफलेष्वलयो भ्रमरा जिमु यथा बाह्येन गन्धानुमोदेन भ्रमन्ति तथा आगमादिज्ञानेन बाह्येन याथार्थ्यं प्रतिरुद्धदृष्टित्वात् गभीरतत्त्वामृतरसं न चिन्तयन्ति इत्यर्थः । तथाचोक्तं चतुर्देवीपरिपृच्छामहायोगतन्त्रे—

चतुरशीतिसाहस्रे धर्म्मस्कन्धे महामुने ।
तत्त्वं वै ये न जानन्ति सर्व्वे ते निष्फलाय वै ॥

T.-text as printed by H. P. Sastri. 3. T. परमथे पविन MS. परमत्थे पवीन ; 4. T. कोटिह माह एक जत होइ निरंजन लीन, MS. कोड़िह मज्झेँ एक्कु जइ होइ निरंजन लीण । 5. T. कोशौ—, HS. कोसौ— । T. प्रविण HS. प्रवीण । 6. T. जोगि- HS. योगी, । 9. T. -पुराणे ; पंडित्त मान वहंति, MS. पंडित्ता मान वहंति । 10. T. भूमयन्ति ; 13. T. याथार्थ प्रतिभरण दृष्टिलात्- HS. याथार्थ्यं प्रति बद्धदृष्टित्वात् । 14. T. चतुरदेवी- ।

एतत् साधनमाह—

वोहिचिअ रअभूसिअ अक्खोहेहिँ सिठ्ठओ ।
पोक्खरविअ सहावसुह णिअ-देहहि दिट्ठओ ॥३॥

अयमर्थः । बोधिचित्तं साम्बृतस्यन्दरूपं शुक्रं रजोभूषितं तत् चित्तवज्रेणाश्लिष्टं । किंभूतचित्तवज्रमित्याह पोच्चरो वक्ष्यमाणपद्मद्वयः अस्य बीजं सुखस्वभावेन स्थितं । शुद्धं तदेवं चित्तवज्रं कुत्र दृष्टमित्याह । निजशब्देन ज्ञानाधिष्ठितो निजदेहः स एव सरोवरसूत्रदृष्टमवगतं । एतदेव स्पष्टयन्नाह—

गअण णीर अमिआह पाँक मूल वज्ज भाविअइ ।
अवधूइ किअ मूलणाल हंकारो वि जाअइ ॥४॥

अयमर्थः । महासुखरूपत्वात् गगनं नीरं अमिताभो बोधिचित्तानन्ददेवं पङ्कं कृत्वा मूलं नालं प्रधानकारणं भावितं । तदेव बोधितचित्तं तेन नालपत्रषण्डादिक्रमेण निष्पादयन् तदर्थमाह । अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादिपापान् धुनोति इत्यवधूती । अवधूत्यवकृतं मूलं प्रधाननालं येन सा अवधूती कृतो मूलनालहेतुरिति शब्दाक्षरम् हंकारोऽपि वक्ष्यमानेन मकरन्दाकारेण अनाहतं वज्रानङ्गाक्षररूपो वज्रधरो जात इत्यर्थः ॥

2. T. **रजभूषिअ** MS. **रअभूसिअ** । T. **अफुम्नोह्लेसिहुउ** MS. restores it from Tib: *bskyod pa gos 'gyur bas* as **अक्खोहेहिँ सिठ्ठओ** (अक्षोभ्येन श्लिष्टः) । 3. T. **विय** MS. **विअ** । T. **दिधउ** MS. **दिठ्ठओ** । 5. T. सुखा शोभावेनष्टितं, HS. सुखस्वभावेन स्थितं । 6. T. तं देवं, evidently a mistake for तदेवं । T. ज्ञानाधिष्टतो HS. ज्ञानाधिष्ठितो- । 8. T. takes **अवधूइ** with the first line. T. **पङ्क किअ मूल विज्ज भाविआ-** MS. **पँक मूलविज्ज भाविअइ** । 9. T. **हंकार** MS. **हंकारो** । 10. T. निरं, MS. नीरं । T. अनाभोगेण, HS. न- । 14. T. यवताक्षरं HS. शब्दाक्षरं ।

ननु अवधूतीवाम्मूलीकृतानि षण्डमृणालपत्राणि कानीत्याह—

ललणा रसणा रविससि तुड़िअ वेण वि पासे ।
पत्त-चउट्ठ चउ-मूणाल ठिअ महासुह वासे ॥५॥

अयमर्थः । वामनासापुटे प्रज्ञाचन्द्रस्वभावेन ललनास्थिता । दक्षिणनासापुटे उपायसूर्य्यस्वभावेन रसना स्थिता । द्वे षण्डे स्थिते । द्वयोः षण्डयोः वामदक्षिणयोः [पार्श्वयोः] । तथा च हेवज्रे—

ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता ।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्ज्जिता ॥ इति ।

ग्राह्यं ज्ञेयं ग्राहको ज्ञानं ताभ्यां वर्ज्जिता । तत्र द्वयाभिन्नमितिभावः । ज्ञेयज्ञानयोर्जन्यजनकेभ्यो तयोर्विपर्य्यासाभावेन सत्तालाभव्युदासादित्यर्थः । शून्यातिशून्य महाशून्यसर्व्वशून्यमिति चतुःशून्यस्वरूपेण पत्रचतुष्टयं चतुरादिस्वरूपेण चतुर्मृणालसंस्थिता । कुत्रेत्याह—महासुखं वसत्यस्मिन्निति महासुखावास उष्णीषकमलं तत्र सर्व्वशून्यालयो डाकिनिजालात्मकजालंधराभिधानं मेरुगिरिशिखरमित्यर्थः ।

एवंकार वीअ लइअ कुसुमिअ-अरविन्दए ।
महुअर-रूएँ सुरअ-वीर जिंघइ मअरन्दए ॥६॥

एवं बीजं गृहीत्वा कुसुमितं अरविन्दं कमलं मधुकररूपेण चित्तवज्रप्रज्ञोपाययोगात् सुरतमनवच्छिन्नमहारागरूपेण विरागदमनाद्वीरः मकरन्दं पुष्परसं सुरत-

1. T. °वेल्लूलीकृता HS. °वोम्मूलीकृता । T. काणि, HS. कानि- । 2. T. **वविश,** HS. **रविशशि** । T. **तुड़िअ,** HS. **तुड़िआ** । 3. T. **चउ पत्तर चउक्कम चउ मृणाल;** MS. **पत्त-चउट्ठ चउ-मुणाल;** 3. T. **थ्यिअ,** MS. **ठिअ** । 5. T. स्वर्गयोः HS. षण्डयोः । 7. T. रशोनो, HS. रसनो- । 8. T. अवधुति, HS. अवधूती । 15. T. **°काल,** MS. **°कार** । T. **लइ,** MS. **लइअ** । **कुसुमिअ,** MS. **°अउ** । 16. T. **रूप,** MS. **रूएँ** । T. **मअरंदतए,** MS. **मअरन्दए** ।

वीरतया च अच्युतं महारागं सुखं चित्तं वज्रोऽनुभवतीत्यर्थः। ननु स्वयं विषयीभूय अनादिक्रमेण फलं निष्पाद्य जिघ्रन्ति। कथं दृश्यते आगमान्तरे। तथा च श्रीहेवज्रे—

स्वयं कर्त्ता स्वयं हर्त्ता स्वयं राजा स्वयं प्रभुरिति। स्वयं हर्त्तेति स्वयमेव संहाररूपः। स्वयं प्रभुरिति सर्व्वाधिपत्ययुक्तवत्। विश्वरूपमणिरिव प्रकाश-स्फुरणसंहारस्वरूपः।

पञ्च महाभूत्रा विग्र लइ सामग्गिए जइग्र।
पूहवि अव तेग्र गंधवह गग्रण सञ्जइग्र ॥७॥

अयमर्थः। पञ्चमहाभूतानि पृथिवी अप्तेजो वायु आकाशादिपञ्चकं बीजं गृहीत्वा सामग्र्या बोलकक्कोलयोगेन तदेव दर्शयन्नाह कर्कशत्वात् कठिना पृथ्वी द्रवत्वाज्जलं तेजोघर्षणात् हुतवहोग्निः सञ्जातः गगणात् समीरणः। सुखरूपत्वात् गगनं। भूतपञ्चकैः परिपूर्णमिलितं शरीरमित्यर्थः। तथा च श्रीहेवज्रे—

कस्माद्भौतिकः स्कन्धः। भगवानाह—

बोलकक्कोलयोगेन स्पर्शात् काठिन्यधर्म्मिणः।
* * * * पृथिवी तत्र जायते॥
बोधिचित्त द्रवाकारादपधातोश्च सम्भवः।
तेजो जायते घर्षणात् गमनाद्वायुः प्रकीर्त्तितं।
सौख्यमाकाशधातुश्च पञ्चभिः परितः स्थितम्॥

अयमर्थः। तत्रेति सहजे पृथिवीधातुरुत्पद्यते। बोल वज्र कक्कोल पद्म वज्रपद्मसंयोगेनेत्यभिप्रायः। तत्र सहजे बोधिचित्तं जायते शुक्रमुत्पद्यते। तस्य

7. T. महाभुता। 8. T. कठिन before पूहवि; MS. अह instead of अव। T. गंतवह which also can be retained but the comm.and Tib. have हुतवहु which MS. accepts. HS. inserts गग्रण after it. 10. T. बोलकक्कोल्य-योग्येन which HS. corrects as बोलकक्कोलयोगेन। 12. T. गमणं, HS. गगणं।

चन्द्ररूपत्वादपः-सम्भव उत्पाद इति। घर्षणात् तेजो जायते। वज्रपद्मघर्षणेन तेजोधातुरुत्पद्यते। गगनात् वायुः प्रकीर्त्तितः चालनरूपत्वाद्वायुधातुः प्रकीर्त्तिता। सौख्यमाकाशधातुश्च सौख्यरूपत्वात्।

गग्रण समीरण सुहवासे पञ्चेहिँ परिपूण्णए।
सग्रल सुरासुर एह्नु उग्रत्ति वढ़िए एह्नु सो सुण्णए ॥८॥

अयमर्थः। गगनमाकाशं समीरणो वायुः तयोः सुखावासे सुखस्थाने पञ्चभि-र्महाभूतैः परिपूर्ण इति। सकलानां मनुष्यादीनां सुरासुराणां उत्पत्तिकारणं पञ्च इति। तदेव सकल सुरासुरः किम्भूत इत्याह। एतत् ज्ञानरहितत्वात् वढ़े मूर्ख इत्यक्षरेण सम्बोधनम्। एतदेव भूतपञ्चकं स्वभावविरहात् शून्यनिस्तरङ्ग-स्वतुर्थः सहजरूपमित्यर्थः। तथाच—

आसाद्य कोऽपि लवणं जलमेकदेशे
क्षीराम्बुधिं सकलमेव परिच्छिनत्ति।
भावैकरूपमवगम्य तथैकदेशे
त्रैधातुकं सकलमेव परिच्छिनत्ति॥

तथापर प्रकारः।

पृथिव्या इन्द्रियं नासिका तस्या विषयो गन्धः। पृथिव्यामेव गन्धो नान्यत्र। अपामिन्द्रियं रसना तस्या विषयो रसः नियमेन रसमेव गृह्णाति। तेजस इन्द्रियं चक्षुः तस्य विषयो रूपम्। वायोरिन्द्रियं त्वक् तस्य विषयः स्पर्शः भगलिङ्गादि-स्पर्शविषयः। आकाशस्य इन्द्रियं श्रोत्रं तस्य विषयो हि शब्दः नियमेन शब्दमेव गृह्णाति नान्यत्। एतदेव स्पष्टयन्नाह—

4. T. सुहआमहि MS. सुहवासे। 5. T. वटिए, MS. वढ़िए। T. सुन्न। 7. T. शाशरीवर HS. corrects सकल सुरासुर। 11. T. स्कारामुड्डिं HS. क्षाराम्बुधिं। 12. T. छिनन्ती HS. -च्छिनत्ति।

खिति जल जलण पवण गअण वि माणह ।
मण्डलचक्क विसअवुद्धि लइ परिमाणह ॥९॥

एतदेव भूतपञ्चकं विषयो वज्राब्जसंयोगात् तास्मिन्निति या बुद्धिः सुखचित्तं सा विषयबुद्धि तामादाय मातृगुपदेशात् पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाश पर्य्यन्तं यावत् प्रतिपद्यस्व। एतेन तत् कीदृशं भवतीत्याह—

णित्तरङ्ग सम सहजरूअ सअल-कलूस-विरहिए ।
पाप-पुण्ण-रहिए कुच्छ णाहि काण्हु फुड़ कहिए ॥१०॥

अयमर्थः। तरङ्गभावान्निस्तरङ्गं समं निर्व्वाणं सहजरूपं सकलकलुषविरहितं विरागादि पानैर्विरहितं परित्यक्तमित्यर्थः तथा च श्रीमदादिबुद्धेन—

विरागात् [न] परं पापं न पुण्यं सुखतः परं ।
अतोऽक्षरसुखे चित्तं निवेश्यन्तु सदा नृप ॥

ततश्च एतेन त्रैधातुकञ्च निस्तरङ्गसहजरूपं वेदितव्यं पञ्चमहाभूत-परिघटितत्वात्। तथा च श्रीहेवज्रे—

सुखं कृष्णं सुखं पीतं सुखं रक्तं सुखं सितम्।
सुखं नीलं सुखं कृष्णं सुखं सर्व्वं चराचरम् ॥

इत्येवंभूते महासुखं सुखाभिधानेऽपि दुःखरहितावस्थितावितिं पापं रागादिदुःखं पुण्यं रागसुखं तत्रैकमपि नास्ति। तथाच श्रीसम्पुटे—

रागञ्चैव विरागञ्च वर्ज्जयित्वा पुनः स्थितः।

स्फुटञ्च कृष्णाचार्य्यकथितमेतत् [न] अन्यैः कथितमित्यर्थः। एतच्च ज्ञान

---

1. T. मानह; 2. T. विषय; 6. T. करूष, MS. कलुस; T. विरहिते MS. विरहिए। 7. T. फुल, MS. फुड़। T. फुल काञ्च कहिए, MS. काञ्च फुल कहिए।

वहिर्मुखैः वहिरात्मयोजनाय। कृष्णं श्यामं कृष्णं शवलं कृच्छ्रदुःखं जातमिति दर्शयन्नाह—

वहिणि क्कलिआ कलिआ सुणासुण पइट्ठ ।
सुणासुण वेणि मज्झेँ रे वढ़ किम्पि ण दिट्ठ ॥११॥

अयमर्थः। वहिर्निर्गतसर्व्वभावानां शून्यत्वेनाकारचक्रमारुह्य अशून्यञ्च शरीरे कल्पितयोगेन रागात्मपि धिया प्रविश्य तदा च मूलीभूता अनयोः शून्याशून्ययो र्मध्ये रे मूढ़ किमपि तत्त्वं न दृष्टं न ज्ञातमित्यर्थः॥ एवञ्चेत् नास्त्येव किञ्चित्तत्त्वमित्याह—

सहज एक्कु पर अत्थि तहिँ फुड़ काण्हु परजाणइ ।
सत्थागम वहु पढ़इ सुणइ वढ़ किम्पि ण जाणइ ॥१२॥

अयमर्थः। सहजमेकं परं तत्त्वमस्ति। तच्च कृष्णवज्रः परं जानाति। शास्त्राणि तर्कादीनि आगमाः क्रियाचर्य्यादिकाणि बहुविधानि पठति पाठयति शृणोति श्रावयति च किमपि [न जानाति] वज्रयानादिनिरुत्तरमन्त्रनयरहस्यवहिर्मुखत्वात्तत् पुनर्मत्सदृशः परं जानातीत्यर्थः ॥

अह ण गमइ ऊह ण जाइ ।
वेणि-रहिअ तसु णिच्चल ठाइ ॥

---

1. T. °योगणाय HS. योजनाय। T. सभलं HS. शवलं। 2. T. दर्शसाह। 3. T. निक्कलित्ता कलित्ता, MS. निक्कलिआ कलिआ। 3. T. पइठत्ता MS. पइट्ठ। 4. T. वेणी MS. वेणि। 4. T. माजरे वट MS. मज्झँ रे वढ़। 4. T. नहि दट्टा MS. न दिट्ठ। 9. T. एक परआथे MS. एक्कु पर अत्थि। 9. T. तहि फुल्ल काञ्च परजइ MS. तहिँ फुड़ काञ्च पर जाणइ। 10. MS. वहु शत्थागम। 10. T. पठइ MS. पढ़इ। T. वट MS. वढ़। T. जानइ। 15. MS. अहिँ न गमइ ण ऊहिँ जाइ। 16. T. वेणि, MS. वेणि। T. निच्चल।

भणइ काण्ह मण कहवि ण फुट्टइ ।
णिच्चल पवण घरिणि घरे वट्टइ ॥१३॥

अधो न गच्छत्यपानवायोर्निरोधात् उर्द्धं न गच्छति प्राणवायोर्निरोधात्। द्वाभ्यामूर्द्धाधः प्राणापानाभ्यां रहितं परित्यक्तं तस्य तथारूपेण बोधिचित्तं निरस्य तिष्ठतीति। तदेव दर्शयन्नाह। भणति कृष्णाचार्य्यः मन बोधिचित्तं कथमपि न स्फुटति न रुध्यति इत्यर्थः॥ एवंभूतं बोधिचित्तं कुत्र वर्त्तत इति तदेव स्पष्टयन्नाह—

वरगिरिकन्दर गुहिर जगु तहिँ सअल वि तुट्टइ ।
विमल सलिल सोस जाइ कालाग्नि पइट्ठइ ॥१४॥

अयमर्थः। वरः श्रेष्ठो गिरिः कङ्कालरूपो मेरुगिरिः। तथा च श्रीसम्पुटे—

स्थितः पादतले वायुः भैरवो धनुराकृतिः।
स्थितोऽस्ति कटिदेशे तु त्रिकोणोद्वरुणस्तथा॥
वर्त्तुलाकाररूपोहि वरुणस्त्रिदले स्थितः।
हृदये पृथिवी चैव चतुरस्रा समन्ततः॥
कङ्कालदण्डरूपोहि सुमेरुगिरिराट् तथा। इति।

तस्य कन्दरं कुहरं तदेव पञ्चानामगोचरत्वाद् गम्भीरं तत्र किम्भवतीत्याह। तत्र नैरात्मधातुः जगत् सकलमेव उत्पन्नं स्थिरीभवति। एतेन किं स्यादित्याह। विमलं निवृत्त्या सुखरूपेण सलिले सांवृतशुक्रद्रवाकारेण विमलरूपं समरूपं बोधिचित्तं शोषं यात्यधः पततीत्याह। तथा च शुक्रसिद्धौ—

पतिते बोधिचित्ते तु सर्व्वसिद्धिनिधानके।
मूर्च्छिते स्कन्धविज्ञाने कुतः सिद्धिरनिन्दिता॥

1. T. मन। 2. T. घर वत्तइ MS. घरे वट्टइ। 8. T. कुहिर, MS. गुहिर। 8. T. तहि सअल चित्त त्यइ, MS. तहि सअल वि तुट्टइ। 14. MS. जाइ ज। 14. T. कालाग्नि।

कालाग्निस्तूल्यवस्था कृष्णप्रतिपत्प्रवेशकालप्रवृत्त इति कथमेतत्॥ अच्युते महाराग-सुखमनुभवतीत्याह—

एहु सो उद्गमेरु धरणिधर समविसम उत्तार ण पावइ ।
भणइ काण्ह दुल्लक्ख दुरववाह को मणे परिभावइ ॥१५॥

अयमर्थः। एषोऽयं बालयोगो दुःखेन प्राणापाननिरोधेन सर्व्वथा निश्चलमनसे निश्चलत्वेन नहि क्रमति चन्द्रमाः। एवं पूर्व्वोक्तो मेरुः तत्र समविसम इति प्राणापानयोः प्रवेशनिष्काशाभ्यां तथा चोत्तरमूर्द्धमेरुशिखरं न प्राप्नोति। अतएव भणति कृष्णवज्रः देवानामलक्षितत्वात् श्रावकादीनामसाधारणं योगिनामगोचरं परमं तत्त्वं दुरवगाहं को मनसि व्यवलोकयति।

जो संवेअइ मण रअण अहरह सहज फुरन्त ।
सो परु जाणइ धम्म-गइ अण्ण कि मुणइ कहन्त ॥१६॥

यः संवेत्ति मनोरत्नं कुलिशाब्जसंयोगात् अच्युतिरूपं बोधिचित्तं अहर्निशं सहजस्वभावं परिस्फुटं स परमयोगीन्द्रो धर्म्मस्य यथाभूतगतिं जानाति नान्यो ह्येन्द्रियघर्षणलक्षणसुखाभिनिविष्टः इति अतएव आह—

पहं वहन्ते णिअमण बन्धण किअउ जेण ।
तिहुअण सअल विफारिआ पुणु संहारिअ तेण ॥१७॥

स्पन्दरूपं बोधिचित्तं स्थिरीकृतं येन योगीन्द्रेण त्रिभूवनं कायानन्दचित्तानन्द-

3. T. सो उद्धर, HS. सो उद्ध [मि]रु, MS. सुदुद्धर। MS. धरणिधर। T. उत्ताल, उत्तार। 4. T. दुक्ख दुक्कर, MS. दुल्लक्ख। T. मने। T. has परम तत्त्वे after मने which MS. omits. 10. T. सवेअण, MS. संवेअइ। 11. T. परु, MS. पर। T. सुनइ, MS. सुनइ। 15. T. पहवहन्द्रे HS. सहजानन्दे MS. पहं वहन्तेण। T. णिअमण। T. वधन, HS. पंदन, MS. वन्धनं। T. किअट, MS. किअउ। 16. T. सयल, T. तेन।

स्वरूपं सकलं निरवशेषं स्फूरितं मत्वा पुनः संहारितं सहजानन्दे प्रवेशितं सुखाभिधाने निवेशितम् इति भावः ॥ अत आह—

काहिँ तथागत लभए देवी कोह-गणहि ।
मण्डलचक्कविमुक्क अच्छउँ सहज खणेहि ॥१८॥

अयमर्थः। किमर्थम्। चित्तवज्रतथागता देवी क्रोधगणे लभ्यतेति मण्डलचक्रविमुक्ताः सहजक्षणे तिष्ठामीति सम्वन्धः। स्कन्धधात्वायतनाद्याः कालकायवाक्चित्तमण्डलदेवताश्चेत् महासुखोपदेशसमरसोभावं गताः तर्ह्येतदेव महामण्डलं यतो नान्यतः पृथग्मण्डलमस्तीति तथा च गुटिकातन्त्रे—

सर्व्वाङ्गभावनातीतं कल्पनाकल्पवर्ज्जितम्।
मात्राविन्दुसमायुक्तं एतन्मण्डलमुत्तमम्॥ इति।

सहजे णिच्चल जेण किअ समरसे णिअमण-राअ ।
सिद्धो सो पुण तक्खणे णउ जरामरणह स भाअ ॥१९॥

अयमर्थः। सहजे महासुखोपायेन निश्चलमस्खलितरूपं कायानन्दाद्येकरसीभावेन बोधिचित्तं ज्ञानानन्दचतुर्थं येन योगिना कृतमिति सम्बन्धः। तदभ्यासपर्य्यन्तेन वृत्त्यागमन[तत्]क्षणात् जरामरणं विहाय सिद्धो भवति। महामुद्रां करोतीत्यर्थः। तथा च श्रीसमाजे—अरुणोद्गमवेलायां सिद्ध्यन्ते नात्र संशय।

तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—

णिच्चल णिव्विअप्प णिव्विआर ।
उअअ-अत्यमण-रहिअ सुसार ॥

3. T. काहि, MS. काहिँ। 3. T. लभते, MS. लभए। T. has उ after लभते which MS. omits: 3. T. कहगणेहि, MS. कोह°। 4. MS. insert होइ after विमुक्क। 6. T. स्कन्धध्यात्वा° HS. स्कन्धध्यात्वा°-। 11. T. 11. T. येन किय, MS. जेन किअ। 11. MS. ससरसेँ। T. णिअमण। 12 T. सिद्धे MS. सिद्धो। T. भाय। 13. T. °द्येकलसा HS. °द्येकरसी-। 14. T. तदश्वासपर्य्यंतेन HS. तदभ्यासपर्य्यन्तेम-। 18. T. णिचल MS. णिच्चल। T. णिव्विकल्प MS. णिव्विअप्प।

अइसो सो णिव्वाण भणिज्जइ ।
जहि मण माणस किम्पि ण किज्जइ ॥२०॥

अयमर्थः। निश्चलं सर्व्वसंकल्पवायुभिरचलत्वात् निर्व्विकल्पं मुद्रारहितत्वेन निर्व्विकारमिन्द्रियातीतत्वात् उदयास्तं गमनरहितत्वेन शरदमलमध्याह्नसन्निभम् खसमाकारमेतन्निर्व्वाणं भण्यते। यत्र यावन्मनश्चित्तं मनसा चतुरशीतिप्रकृतयो न किमपि क्रियते। एतादृशः स्वपरापरसंकल्पं किञ्चिदपि न जायते। तत्र प्रभास्वरज्ञानोदयसमय इत्यर्थः॥

एवंकार जे वुज्झिअ ते वुज्झिअ सअल असेस ।
धम्म करण्डहो सोहु रे णिअ पहुकेरो वेस ॥२१॥

अयमर्थः। एवंकार इति। शून्यताकरुणाभिन्नरूपिणी महामुद्रा इत्थं एवंकारं येन प्रतीयते तेन योगीन्द्रेण स्कन्धधात्वायतनादीनां प्रतीतमिति। सैव महामुद्रा धर्म्मकरण्डकरूपा धर्म्मकायात्। अतस्तेषां करण्डकस्थानां सैव रसं बोधनं निजप्रभोर्व्वज्रधरस्य वेश आभरणं अलङ्कारः शोभनमिति यावत्। तथा च श्रीहेवज्रे—

एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये वंकारभूषितम्।
आलयः सर्व्वसौख्यानां बुद्धरत्नकरण्डकम्॥

अन्यत्राप्युक्तं—

एकारस्तु भवेत् माता वकारस्तु रताधिपः।
विन्दुः चानाहतं ज्ञानं तज्जातान्यक्षराणि च॥

2. T. मन, मानस, न। 5. T. चतुरसीति-। 8. MS. जेँ। 8. T. वुज्झिउ in both the cases MS. वुज्झिअ। 8. T. अशेष, MS. असेस। 9. T. शिष। T. पहुँ करो वेश, MS. पहु केरो वेश।

जइ पवण-गमण-दुआरे दिढ़ ताला वि दिज्जइ ।
जइ तसु घोरान्धारे मण दीवहो किज्जइ ॥
जिण रअण उअरेँ जइ सो वर अम्बरु छुप्पइ ।
भणइ काण्ह भव भुञ्जन्ते णिव्वाणो वि सिज्झइ ॥२२॥

अयमर्थः। पवनस्य गमनद्वारं तत्राद्धं यदिदमभेदितमभेद्यतालसंपुटीकरणं चन्द्रसूर्य्ययोर्मार्गनिरोधं दीयते। यदि तस्मिन् घोरान्धकारे मनोर्वृत्तिर्बोधिचित्तं तदेव महासुखप्रकाशकत्वात् दीपः क्रीयते तज्जिनरत्नं अधऊर्द्धपद्मं वरगगणाख्य मवधूती स्पृशति तमालिङ्गयति। एतेन किं स्यादित्याह। भणति कृष्णवज्रः तदेव भवं भुज्यमाने सति पञ्चकामगुणानुभवं कुर्व्वाणे निर्व्वाणं महामुद्रापदं साक्षाद्भवति।

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

जो णत्थु णिच्चल किअउ मण सो धम्मक्खर पास ।
पवणहो वज्झइ तक्खणे विसआ होन्ति णिरास ॥२३॥

अयमर्थः। स पुरुषो वज्राजेयोगे निश्चलीकृत्य मनो बोधिचित्तं पूर्व्वोक्त-लक्षणानाहताक्षर महामुद्रापार्श्वे पवनोऽपि प्राणवायुर्बध्यते। तत्क्षणं क्षणान्तरं नापेक्षित इत्यर्थः। अष्टादशधातुविकाररहितत्वात्। तथा च सरहपादाः—

ते धातवः क्षीणतरा बभूवुर्वायुः स्वतन्त्रो यत एष एव।
सा कामिनी कामुक[क]ण्ठलग्ना अद्यापि किं कायसुखं सुहृन्मे ॥

ननु धर्म्माक्षरमे[तत्] कुत्र ज्ञातव्यमिति।

1. T. पवनगमन। T. दित ताला विभिज्जइ, MS. दिढ़ ताला वि दिज्जइ। 2. T. घोरान्धारे, MS. घोर अन्धारेँ। 2. T. दिव हो MS. दीवहो। The third line in the T. is incomplete. 3. T. उअज्जइ, MS. उअरेँ जइ। 3. MS. adds after this सो [वर] अम्बरं छुप्पइ। 4. T. भुंजते MS. भुंजन्ते। T. निव्वाणो। T. मिज्जइ। 12. T. णथु निच्चल, T. धम्मच्चर MS. धम्मक्खर। 13. T. पवन ही, T. विसया।

परमविरम जहिँ वेणि उएक्खइ ।
तहिँ धम्मक्खर मज्झे लक्खइ ॥
अइस उएसे जइ फुड़ सिज्झइ ।
पवण घरिणि तहिँ णिच्चल वज्झइ ॥२४॥

अयमर्थः। परमविरमौ रागविरागौ कालविकालरूपौ द्वावुपेक्षध्वं। तत्र धर्म्माक्षरमुक्तलक्षणं षोड़शीकलारूपं मध्ये लक्षयेदिति। पूर्व्वोक्तज्ञानमुद्रोपदेश-प्रतिपादनार्थमाह। ईदृशेन मन्त्रनयोपदेशेन यदि स्फूटमेतत् ज्ञानमुद्रा सिद्ध्यति सम्पद्यते तदा किं भवतीत्याह। प्राणवायोर्गृहिण्याः तस्या ज्ञानमुद्रायाः शवरी-रूपायाः स्थिरं बाध्यते निश्चलीभवतीत्यर्थः। ननु शवरी-तावत् पतिता शवरः पुनः किंभूतः कुत्र वसतीत्याह।

वरगिरि-सिहर उत्तुङ्ग मुणि सवरे जहिँ किअ वास ।
णउ सो लंघिअ पञ्चाणणेहि करिवर दुरिअ आस ॥२५॥

वरगिरिः स एवं पूर्व्वोक्तगिरिस्थाने शिखर शृङ्ग तदेव महासुखाधारत्वात् उत्तुङ्ग महत् तत्र शवरेण वज्रधरेण भगवता कृतो वासः किं विशिष्ट इत्याह। न तल्लङ्घितो नाक्रान्तः केनेति पञ्चमण्डलात्मक प्राणपवन करिवरस्य चित्तगजेन्द्रस्य दूरतरमिति।

एहु सो गिरिवर कहिअ मइँ एहुसो महासुह ठाव ।
एक्कु रअणि सहजखण लब्भइ महासुह जाव ॥२६॥

1. T. जहि, MS. जहिँ; T. उएच MS. उएक्खहि; 2 T. तहि धम्मच्चर MS. तहिँ धम्मक्खर; T. मझहो; HS. corrects मझे, MS. मज्झे; 3. T. फूल, MS. फुड़; 4. पवन; T. निच्चल। 11. T. शिहर; T. मुणि, MS. मलि; 12. T. has सो after णउ which MS. omits: 12. T. पञ्चाननेहि, MS. पञ्चाननेहिं; T. करिवर; T. मणि, MS. मंइ; T. थाव, MS. ठाव; T. निसग्ग, MS. णिअइ; 18. T. खणइण हइ, MS. खण लब्भइ।

अयमर्थः। स एव गिरिवरः कथितो मया कृष्णवज्रेण नान्येन कथितं मद्विधा अपरे कथितुं [न] समर्थं इति विवृत्या एतदेव महासुखस्थानं पूर्व्वोक्तमेव स्थलो एतस्मिन्। तदेव महासुखलक्षणं निर्व्वाणं कुरुत यावच्चतुर्द्दशभूमीश्वरो वज्रधरपदं न लभ्यते। किम्भूतोऽसौ वज्रधर इत्याशङ्क्याह—

सव जगु काअ वाअ-मण मिलि विप्फुरइ तहिंसो दूरे।
सो एहु भङ्गे महासुह णिव्वाण एक्कु रे ॥२७॥

अयमर्थः। सर्व्वे ते वैरोचनादयस्तथागता रूपादिपञ्चस्कन्धस्वरूपेण जगदाकारास्तेषां कायवाक्चित्तं पृथिव्यादिरूपेण वैरोचनादिदेव्याहि ताभिर्मिलितमेकलोलीभूतं महारागादि संबोधिलक्षणवज्रधरशरीरं क्षीरनीरन्यायेन एभिः समरसीभावः तत्रैव वज्रधरशरीरे तदेव कायवाक्चित्तादिकं जलतरङ्गन्यायेन विस्फूरति। अनेन त्रैधातुकं वज्रधरशरीरमित्यर्थः॥

एक्कु ण किज्जइ मन्त ण तन्त।
णिअ घरिणी लइ केलि करन्त॥
णिअ घरे घरिणी जाव ण मज्जइ।
ताव कि पञ्चवण्ण विहरिज्जइ ॥२८॥

अस्यायमर्थः। एकमपि न क्रियते मन्त्रो न मन्त्रजापः तन्त्रो न तन्त्रपाठः निजगृहिणी ज्ञानमुद्रा शुचित्वावभासा सद्गुरूपदेशेन तां गृहीत्वा केलि क्रीड़ां कुर्व्वता योगिना स्थेयमिति। तथावादि च—

5. P. सवज्जओ which HS. reconstructs as स वज्जगु[रु] but MS. वन जगु; T. मिलिअ, MS. मिलि; 5. T. विफूलइ, MS. विफूरइ; 6. T. निव्वाण; T. एथूरे, MS. एक्कूरे। 1?. एक्क, MS. एक्कू; 13. T. धरणि; 14. T. घर, MS. घरे; 15. T. पञ्चवर्ण, MS. पञ्चवण्ण।

केचित्तस्याभासमात्रा सुमनसि जनिता दर्शविम्बोपमा वै।
योगिन्द्रैः सेवनीया परमजिनसुतैः सेविता या च बुद्धैः॥
सा ज्ञानार्च्चिः प्रवृद्धा दहति सविषयं मारवृन्दं समस्तं।
रागादिश्चापि काये दहति समसुखं योगिनां वर्षयोगात्॥

एतस्यां भगवत्यां आसक्तेन योगिना मन्त्रतन्त्रग्रहो न कर्त्तव्यमिति। निजगृहिणी महामुद्रारूपं तत्र गृहिणी सैव ज्ञानमुद्रा यावन्न मज्जति न लीयते तावत् किं पञ्चवर्णसंस्थानैः किं क्रियत इति। अस्या एव महामुद्रायाः फलं साधनोपायत्वं निश्चयेन दर्शयन् पुनस्तदेवाह।

एसो जप-होमे मण्डल-कम्मे।
अणुदिण अच्छसि काहिउ धम्मे॥
तो विणु तरुणि णिरन्तर णेहेँ।
वोहि कि लब्भइ एण वि देहेँ ॥२९॥

अनेन बाह्यभूतेन होमेन मण्डलकर्म्मणा अनुदिनं तिष्ठसि किं मूढ़ मनसा-[मू]ढ़ [केन] प्रकारेण। कथमेतत् सर्व्वं निष्फलमिति। तया विना सदैव रागमयः तरुण्या महामुद्रया सह रतिरन्तरमनवच्छिन्नानुरागस्तेन विना किं महामुद्रा लभ्यते अनेन मनुष्यदेहेनेति। मनुष्यदेहं विहाय देहान्तरेण बोधिर्न स्यात् किं सत्यमेतत्। कुतः नरा वज्रधराकारा योषितो वज्रयोषितः इति वचनात् तस्याः फलमाह।

जेँ बुज्झिअ विरल सहजखण काहिँ वेअ-पुराण।
तेँ तुड़िअ विसअ-विअप्प जगु रे असेस परिमाण ॥३०॥

9. T. एष, MS. एसो; 10. T. दिन; 11. T. णिरन्तर णेहे; 12. T. लाभइ। 19. T. बुझि अविरल सहज सुण काहि— MS. जेँ बुझिअ— सहजखण काहिँ—; 20. T. तेपोतोलिअ— HS. तेनो तोलिअ, MS. तेँ तुड़िअ; T. विषय वियप्प- MS. विसअ-वियप्प; T. अशेष।

येन प्रतीतं सदोदितं महामुद्रास्वरूपं सहजलक्षणं पूर्व्वस्मात् ख्यातमागमं तेन योगिना सकलविकल्पावशेषमनो अहंकार स्फोटितमु[न्मूलितमित्य]र्थः ।

जैँ किअ णिच्चल मण-रअण णिअ घरिणी लइ एत्थ ।
सोह वाजिर णाहु रे मयिँ वुत्त परमत्थ ॥२१॥

अयमर्थः । येन कृतं प्रचण्डाली चालयितुमशक्यत्वात् निश्चलं मनोरत्नं बोधिचित्तं निजगृहिणी इयमेव दिव्यमुद्रा तत्रैव एवंकारे महासुखस्थाने स एव वज्रो वज्रधरो नाथः कायवाक्चित्तप्रभुः । उक्तो मया कृष्णवज्रेण परमोऽकृत्रिमोऽयमर्थः । एतस्मिन्नन्यथा नास्तीत्यर्थः । एतदेव स्पष्टयन्नाह—

जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणी लइ चित्त ।
समरस जाइ तक्खणे जइ पुणु ते सम णित्त ॥२२॥

अयमर्थः । यथा लवणं विलीयते पानीयेन तथा गृहिणी ज्ञानरूपिणी गृहित्वा चित्तं समरसमेकलोलीभावं गच्छेत् तत्क्षणं यदि पुनस्तया सुखचित्तरूपया गृहिण्या समं नित्यं अवस्थितो भवतीति एतेन युगनद्धा वज्रसत्त्वा दर्शिता इति ।

इत्याचार्य्यपादीय-दोहाकोषमेखलाटीकासमाप्ता ।

---

3. T. जे MS. जैँ ; T. निच्चल ; T. रयण ; T. घरणी, T. एत्थो ; MS. एत्थ ; 4. T. सो, MS. सोहो ; T. मयो, MS. परमत्थ । 9. T. तिनिम, HS. तिम ; 10. MS. जाइँ ; 15. T. समाप्तं । After समाप्तं T. has शुभसंवत् [नेपाल] १०२७मिति शुद्धचैत्र शुक्र ६ गुरु वा दिने लिखितम । शुभं भूयात् ॥

NOTES AND TRANSLATIONS.

I

THE DOHAKOSA OF TILLOPADA

[Text pp. 1-4; Text with Commentary pp. 41-51; Tibetan Text—Xylograph, Narthang edition, vol. xlvi, folia...135ª-137ª].

1. [pp. 1 ; 41], **Tib.**—

phuṅ po khams daṅ skye mched dbaṅ po rnams |
lhan cig skyes pa'i raṅ bshin las |
ma lus de las byuṅ shiṅ de ru thim |

bhūa which is effaced in the MS. may be restored from Tib. khams—literally *dhātu*, elements. The word is also translated in the Sanskrit commentary where after the enumeration of the five *skandhas* comes that of the five *bhūtāḥ*—the five elements, earth, water, fire, air and space. The word clearly occurs in Saraha's Dohākoṣa, verse 92 (p. 21) where the first pāda is quoted verbatim—*kandha-bhūa-āattaṇa-indī*. *bībandī*—the meaning of the word is not clear. It is translated in Tib. as 'thim' which literally means 'to be lost,' 'to be dissolved in' *vilīna*. In the commentary there was a lacuna which I have restored as *badhyante*.

Com.—Tillopāda is speaking of the purification, through Sahaja, of the present aggregates (*skandha*), elements (*bhūtāḥ*) etc., which themselves are the causes of the future aggregates, elements, etc. The aggregates are five in number, relating respectively to form (*rūpa*), sensation (*vedanā*), notion (*saṁjñā*), operant (*saṁskāra*) and consciousness (*vijñāna*). The elements

are five in number relating respectively to earth, water, fire, air and space. The sense organs (*āyatana*) and the senses (*indriya*) are six in number relating to the eye, ear, nose, tongue, body and mind. All these disappear when the sahaja-nature arises. Now the question is, whether this sahaja-nature is a positive (*bhāva-svabhāva*) or a negative (*abhāva°*) state. If it be a positive state then it would imply transmigration (*saṁsāra*) and if negative, then it would imply complete annihilation. For avoiding such a confusion sahaja is defined in the next verse.

Tr.—The aggregates, elements, sense organs and senses are all bound down by (i.e., merge in) the sahaja nature.

2. [pp. 1 ; 41], **Tib.**—

lhan skyes dṅos daṅ dṅos med gtam mi 'dri |
stoṅ pa sñiṅ rje de ru ro mñam 'dod |

'gtam mi 'dri' would be literally *kathā na pṛccha*. "ro mñam" is the regular translation of the term *samarasa*. It is difficult to translate this term. M. Shahidullah translates it as "identité de jouissance." It refers to a state of mind which is free from all contradictions. The second line of the Tib. is literal translation of the text : *śūnyatā karuṇe tasmin samarase icchate*. The first line of the text also occurs almost under the same form in Saraha's Dohākoṣa, verse 20 (p. 12) : *Sahaja sahāba na bhāvābhāva*. For the discussion on sahaja see the introduction.

Com.—The nature of sahaja is neither positive nor negative ; it involves neither transmigration nor annihilation. The state of mind in which vacuity and compassion become identical can be defined as sahaja. It has been described to be eternal, a kind of joy and the highest bliss—not merely a proposition (*saṁkalpamātra* ?). Therefore, by attaching yourself to the state of *saṁkalpa*, do not bring the sahaja nature down to

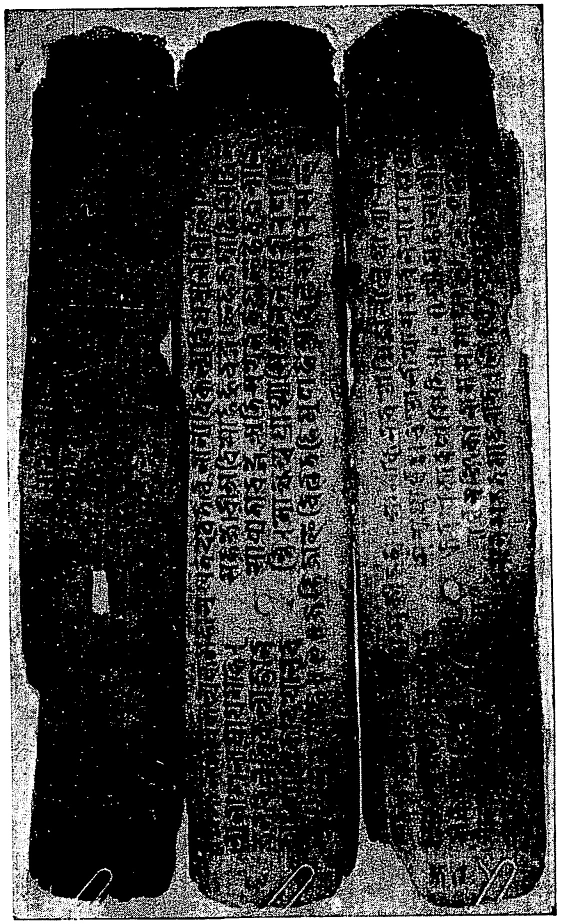

MS. B. [Tillopāda]—leaves 2ª (=p. 41), 5ᵇ (=p. 43), 17ᵇ (=p. 51)

the sphere of the phenomenal world. The means of purifying the mind when it is attached to the state of *saṁkalpa* is indicated as follows.

Tr.—Do not think that there are existence and non-existence in sahaja (i.e., do not attribute positive and negative character to sahaja). There is in it the vacuity, compassion and samarasa.

3. [pp. 1 ; 42], **Tib.—**

sems la mya ṅan baṅs pa rgya bal sad |
khams gsum stoṅ pa gos pa med las 'shug |

'baṅs pa rgya bal' is not clear. Is it a mistake for 'baṅs pa rgyug pa' which means "to run a race"? In that case *haṇiā* of the text should be connected with Beng. *han-han,* an onomatopoeic meaning 'a swift movement.' In the commentary however the word is interpreted as *hatvā,* "after killing." 'mya ṅan' of Tib. should have been in instrumental as in the text we have *ṇivvāṇe* (com. *nirvāṇena*). *Paliyā* of the text seems to be a mistake for *pasiā,* as the Tib. translation shows ; Tib. 'shug means "go, go in,"—the sense which is also preserved in the commentary—"*praveśyatām.*" The form *pasiā,* however, is not in the imperative.

Com.—When the mind seeks to attain to the state of complete concentration it should be made absolutely inactive (*lit.* to be completely killed) through *nirvāṇa* which possesses the nature of vacuity. The mind being thus killed, the pure knowledge of the vacuity of the three worlds should be attained; that is all the sense. Otherwise, the sahaja knowledge being in the proximity of the illusory world may be easily disturbed. Sahaja is meant to be a state which may not be described (*lit.* established—*apratiṣṭhita-*).

[The commentator quotes the beginning of a verse from some other text in order to illustrate the indescribable character

of Sahaja. I have not been able to trace the quotation and the text from which it is made. In the next verse the commentator refutes the views of those who criticise the truth relating to non-cogitation (*amanasikāra*).]

Tr.—Kill the mind completely through nirvāṇa, [and] enter into pure vacuity of the three worlds.

4. [pp. 1 ; 42], **Tib.**—

yid la ma byed gñug ma'i raṅ bshin la |
brdsun pa rnams kyis skur pa ma 'dibs śig |
raṅ dbaṅ yod pa daṅ ñiṅ 'chiṅ ma byed |

In Tib. this verse occurs before the last. The Tib. is not a literal translation of the original verse—it is merely explanatory. 'Yid la ma byed' means literally "not to act in mind," *i.e.*, "not to cogitate" (*amanskṛ*). The Tib. version may be rendered as follows :—Do not decry erroneously the mental inaction in regard to the nature of the innate (? 'gñug ma'). Freedom [from mental act, *i.e.*, *amanskāra*] does not bring in bondage ('ñiṅ 'chiṅ'—*anubandha*).

Com.—Not to cogitate is *amanasikāra*. It is the Sahaja knowledge which is free from all possibilities of contradictions. It should not be abused by an attempt to comprehend the nature of Sahaja. So it has been said—all the contradiction that arises in the mind should be abandoned. The mind should be purified through Sahaja knowledge and fixed on that Sahaja knowledge which is free from doubts and contradictions. How to do that is described in the next verse.

[The quotation in the Com. occurs in a more complete form in the Com. on Saraha's Dohākoṣa (*supra*, p. 90). But there also we do not find any mention of the source from which it is quoted. It occurs again in the Com. on the *Caryācarya-viniścaya* (Śāstrī, p. 16) where it is mentioned as a quotation from the *Apratiṣṭhānaprakāśa*. In the two other contexts the

line occurs as *Yāvān kaścidvikalpaḥ prabhavati manasi tyājya-rūpaḥ sa sarvaḥ* (*supra*, p. 90) and —*tyājya-rūpaḥ hi tāvān* (Śāstrī, p. 16). The reading *prabhavati* for *yaḥ bhavati* is evidently better.]

Tr.—Do not erroneously decry non-cogitation. Do not wish bondage for self.

5. [pp. 1 ; 42], **Tib.**—

sems ni mkha' 'da mñam pa ni bde bar shugs |
dbaṅ po yul rnams skyed cig rtsaṅ ni deṅ |

The regular translation of *khasama* in Tib. is 'mkha' mñam' but here only *kha-* has been rendered. *'da* seems to be a mistake for *'di*. The first line is literally, "vacuity in the mind—in this [state of] equality joy enters."

The lacuna in the second pāda can be reconstructed from the second line of Tib. which literally means—"The least origination of sense-objects goes away" The Com. has—*tatkṣaṇe ca indriyair viṣayā na dṛśyante*. The Tib. and the Com. support the restoration *i*[*ndīa-visaa tahi matta*] *na dīsai*.

Com.—The mind by its nature wants an object of attachment (. *lit.* companion). Through *khasama*, *i.e.*, knowledge of vacuity, it enters into the state of joy which arises from the union of mind with vacuity [=*samasukha*]. At that moment, the objects are not perceived by the senses. For the removal of errors (*vikalpa*) the next verse has been introduced.

Tr.—When the mind united with vacuity enters into the [state of] joy which arises out of that communion, the objects of the senses are not at all perceived.

6. [pp. 1 ; 42], **Tib.**—

thog ma spaṅs pa shiṅ 'de cu tha ma spaṅs |
bla ma mchog gi shabs kyis gñis med bstan |

The meaning of 'shiṅ' in the first line is not clear. It may

be taken in the sense of *ātmā* "self" for which the regular Tib. expression is 'bdag ñid.' The second pāda of the original contains a lacuna at the end, which may be restored from Tib. 'gñis med bstan'—*advayaṁ deśitam*. The Com. has *advayaṁ kathitam*. Hence the restoration *addaa kahia* is justified. The construction is passive ; *varaguru-pāa* is therefore in the instrumental. The normal instrumental form should be *vara-guru-pāe*.

Com. The joy that arises out of the communion (*i.e.*, *samasukha*) is without beginning, due to the absence of any permanent break. It is without end as it is indestructible. Such a joy, devoid of any dual character, has been communicated by the Guru through teaching. It cannot be explained in words.

Tr.—It is without beginning, without end—such non-dual [joy] has been communicated by the best of Gurus.

7. [pp. 1 ; 43], **Tib.**—

sems ni gaṅ du shi gyur pa |
der ni rluṅ yaṅ thim par 'gyur |
raṅ rig pa ni de ñid 'bras bu ni |
su shig la ni gan gis ji ltar bstan |

The first line of Tib. is not the exact translation of *tu marai jahi* of the text. It literally means "where in the mind there is appeasement." 'Yaṅ'—of the second line should be taken in the sense of—'yaṅ dag'—meaning *samyak*. It conveys to some extent the meaning of *ṇirāsa* of the text. The lacuna in the second line of the text may be restored from Tib.—'raṅ rig pa ni de ñid 'bras bu ni'=*sva-vedyaṁ tattvaphalaṁ*. The Com. has—*tat svasaṁvedyalakṣaṇaṁ tattvam*. The expression occurs again in verse 9 [*infra*] as *saa-saṁveaṇa tattaphala* and in Frag. II of Saraha [verse 10, *supra*, p. 8] as *saa-saṁviṭhā tattaphalu*.

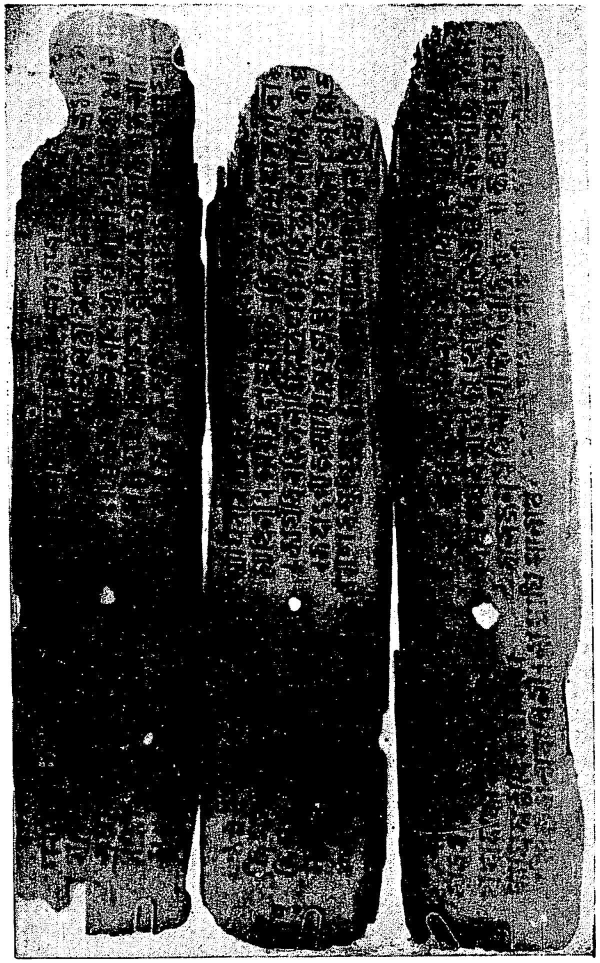

MS. B. [Surahapāda]—leaves 18^{a} (=p. 52), 20^{b} (=p. 54), 102^{b} (=p. 120)

Com.—That the mind possessed with the knowledge of formal differentiation dies and that the [vital] wind gets dissolved—is a truth which can only be realised by one's own self ; how can it be explained to another ? That this truth is not general, *i.e.*, may not be realised by everybody, is explained in the next verse.

Tr.—Where the mind dies the [vital] wind is dissolved completely. Such an essence of truth, which can be realised by self,—how can that be told ?

8. [pp. 1 ; 43], **Tib.**—

> smoṅs pa'i 'jig rten 'gro ba rnams kyi spyod yul min |
> mkhas pa rnams kyis de ñid bgrod bya min |
> gaṅ la bla ma'i shabs ni mñis pa yi |
> kyi ho gaṅ zag de yi spyod yul min |

smoṅs pa'i—is clearly a mistake for—rmoṅs pa'i—which means "a fool," translation of *baḍha* of the text. The first two lines of Tib. may be literally rendered as—*mūrkha-loka* ! *lokānām agocaram paṇḍitānām tattvam agamyaṁ.* The third and the fourth lines of Tib. mean "He who is favoured by the Guru—can anything remain unrealised to that individual ?" The com. has *yaḥ puṇyavān gurupāda-prasannaḥ tasya tattvaṁ gamyaṁ jñātuṁ śakyam* ; hence I have restored the lacuna in the second line of the text as *jo gurupā* [*apasaṇṇa tahĩ ki citta agamma*] though the com. requires *tatta* instead of *citta*.

Com.—The truth which is inaccessible to the fools is equally so to the learned people who are absorbed in the study of the scriptures,—*i.e.*, the study of the scriptures does not help them at all in the realisation of truth. The truth comes only to the man of virtue, who has been blessed by the Guru.

Tr.—The truth is unattainable by the fools, by other people as well as to the learned world. Can the mind remain inaccessible to him who is blessed by the Guru ?

9. [pp. 2 ; 43], **Tib.**—

raṅ rig de ñid 'bras bur ni |
tai-lo-pa yis de skad bstan pa yin |
yid kyi spyod yul du ni gaṅ gyur pa |
de ni don dam ma yin no |

The second line of the original which is translated in Tib. as—yid kyi...yin no—is omitted in our text. The Tibetan translation may be literally rendered as—*managocarāḥ viṣayāḥ yasmin tasmin paramārthāḥ na bhavanti.* The com. has *ye mano-gocara-prāptāḥ padārthās te paramārthā na bhavanti.* The Skt. com. of the Caryā-carya-viniścaya (Śāstrī, p. 62) quotes this verse in a corrupt form :—

saa-saṁbeaṇa tantaphala tilopāe bhaṇanti |
jo maṇagoara goiā so paramathe na honti |

It also occurs in Frag. II of Saraha, (*supra* p. 8, verse 10) almost under the same form, the only difference being that it contains the name of Sarahapā instead of that of Tilopā :

saa-saṁbiṭhā tattaphala sarahapāa bhaṇanti |
jo maṇagoare pāṭhiai so paramattha ṇa honti |

I have therefore restored the second line of the present verse as—*jo maṇagoara paiṭṭhai so paramattha ṇa honti.*

Com.—Tillopāda is speaking of the truth that results from self-realisation. The objects that are within the reach of the mind are not of absolute value. That which is of spontaneous origin, that great joy which has no dual character is the [absolute] truth. Such is not the case with other objects and thoughts having dual character. In the next verse the means of dissipating this *vikalpa* is described.

Tr.—Tillopāda speaks of that essential truth which is to be fully known by the self. That which reaches the mind is not the absolute truth.

After the translation of the last verse the Tib. contains translation of a few more verses of which there is no trace either in the text or in its Sanskrit commentary. Their occurrence shows that the Dohākoṣa of Tillopāda was known in more than one version and that the number of verses was not the same in them. Tib. translation of those additional verses is the following :—

de ñid bla ma'i gsuṅ gis bstan par bya ba min |
des na slob mas go pa lta yin no |
lhan skyes 'bras bu bdud rtse'i ro |
de ñid su shig la ni ci shig bstan |
gaṅ du yid ni shi ba daṅ |
yid dṅo rluṅ gñis mñam par shu |
der ni rnam par kun spaṅs pa la |
khams gsum der gnas pa yin |
rmoṅs pa gñug ma'i raṅ bshin śes par gyis |
de tsho gti mug dra ba ma ltas chad par 'gyur |

Tib. had gñes (l. 6) and gti nug (l. 10) which I have corrected respectively as gñis and gti mug. The Tib. may be rendered thus—

tadeva guror-vācā na deśitam—tat śiṣyena boddhavyaṁ ; sahaja-phalam amṛta-rasaṁ tadeva kaśmai kaḥ deśati. yadā manasi śāntiḥ [jātā] mana-pavanau dvau samatāṁ [prāptau]. tadā sarvaṁ parityaktaṁ ; trīṇi bhuvanāni tasmin vasanti. re mūrkha ! sahaja-svabhāvaṁ jānīhi, mūḍhā stan-na paśyanti.

The first of these verses occurs in its original form in Frag. II of Saraha (verse 9, p. 7, and also Saraha IV, p. 28,

where it is quoted from the *Kriyāsamuccaya*). There are some minor variations between the two :—

ṇau tam-vāahi guru kahai ṇau tam-bujjhai sīsa |
sahajāmiarasu saala jagu kāsu kahijjai kīsa |

10. [pp. 2 ; 43], **Tib.**—

lhan cig skyes pa'i sems ni legs par sbyoṅs |
rche 'dir dṅos grub thar pa lus 'dis rñiṅ |

The restoration of the lacuna in the second line of the text as—*iha jammahi siddhi* [*mokkha bhaṅga*]—is doubtful but *bhaṅga* is almost imposed by the rhyme. In the Com. the sense is made quite clear—*mokṣañca prāpsyasi anena śarīreṇa*. The Tib. rche 'dir......rñiṅ—literally means—*asmin janme siddhi-mokṣam anena kāyena jīrṇam*. rñiṅ means—*jīrṇa, i.e.*, old, worn out. It is evidently a mistake for rñed "to acquire, to discover" which agrees with the meaning of *prāpsyasi* as given in the commentary. *bhaṅga* occurs in Saraha's Dohākoṣa, verse 37 (*supra*, p. 14), and there too it rhymes with *caṅga*. The word is translated by M. Shahidullah as "diversity" (*saṁsāraha bhaṅge*—la diversité du cercle de l'existence). But the Sanskrit commentary on the Dohākoṣa explains (*supra*, p. 79) *cittarūa saṁsāraha bhaṅge* as *saṁsāra-ścittamayo vā tasya bhagno sambhavatīti, i.e.*, "the phenomenal world subsists in the mind—its diverse manifestations (?) arise there ;" *bhaṅga* may therefore be taken in the sense of "the different manifestations." *Siddhi, i.e.*, spiritual success and *mokkha, i.e.*, spiritual liberation, are only diverse experiences made by the Yogin in course of his march. *Siddhi* and *mokkha* are not, however, the final goal. This meaning is further brought out by the commentary.

Com.—The mind which is the source of *vikalpajñāna* should be well purified through Sahaja. The people who are *siddha*

will be *śāntika*, etc., in this very life. They will attain *mokṣa* too in this very body.

[*Śāntika* is a special kind of spiritual attainment. *Cf.* The *Pañcakrama* of Nāgārjuna (ed. de la Vallée Poussin, p. 38, verse 30)—

Śāntikam pauṣṭikam cāpi tathā vaśyābhicārakam |
Ākarṣaṇādi yat sarvam kuryād indrāyudhopamam |

In the *Tathāgataguhyaka* (ed. B. Bhattacharyya) the nature of these attainments is described (p. 168, ll. 1-2)—

Śāntike śāntacintaṁ (sic) *tu pauṣṭike puṣṭimānasam* |
Vaśye raktaṁ manaḥ kṛtvā krodhe kruddhaṁ prasādhayet |

also p. 64 (ll. 1-2)—

Śāntike locanākāraṁ pauṣṭike padmavajriṇam |
Vaśye vairocanapadaṁ vajrakrodho'bhicārake |

In both these cases *śāntika* is translated into Chinese (Taisshō Ed. Tripit, Vol. XVIII, p. 510 and p. 484 respectively) as *si-tsai* meaning "peace." In the *Mahāvyutpatti* (ed. Sakaki, Section cxcviii, 4241-4244), all the four spiritual powers are enumerated —*śāntika, pauṣṭika, ābhicārika* and *vaśi-karaṇam*. The meanings in Tibetan are given respectively as—shi-ba—peace, peaceful ; rgyas pa—increase, increasing ; drag śul spyod pa—to have a fierce look (a mystic practice) and dbaṅ du bya ba—to control, faculty of controlling others.

Therefore when the commentary explains the second pāda of the text as—*iha janmani siddhayo hi lokāḥ śāntikādayaḥ*—the idea is that the spiritual powers like *śāntika, pauṣṭika, ābhicārika* and *vaśikaraṇa* may be obtained in this very life. But, as is well known, these powers are supposed to be of secondary importance in relation to the highest spiritual goal. Hence the meaning of *bhaṅga* in the text as "diverse manifestations" may be justified.]

Tr.—Purify the mind well through Sahaja. There will be manifestation of success and liberation in this very life.

11. [pp. 2 ; 43], **Tib.**—

gaṅ du sems ni 'gro ba der |
der ni sems med par ni ltos |
ṅa bye ba med par ro mñam gnas par gyis |
sems daṅ sems med ni legs par rtshol |
rche 'di ñid pa dṅos grub legs par gsal por rñed |
sems ni gaṅ du shi gyur pa |
khams gsum po ni de ru thim |

gaṅ du......ni ltos=*yatra cittaḥ yāti tatra acittaṁ paśya.* This is therefore an exact translation of the first line of the text —*jahi jāi citta tahi suṇahu acitta.* The second line of the text however is not literally translated, ṅa bye ba med par—unless faulty, may be interpreted as *aham viśeṣa-rahitaḥ* which conveys the idea of *dvayarahita* of the commentary. ro mñam gnas par gyis—*samarasaḥ varttate.* I have restored the lacuna in the second line of the text as *samarasa* [*ṇimmala bhāvābhāva-rahia*] on the strength of the commentary—*evaṁ dvayarahita-samarasaḥ saiva nirmalaṁ cittaṁ svabhāvataḥ śuddhabodhi-rūpaṁ.* If the restoration stands then *acitta* of the first line should be corrected as *acia* for the sake of the rhyme.

For Tibetan rche 'di......de ru thim—there is no original in the text. It may be rendered as—*asmin janme tattvam siddhiṁ atiśayena prāpsyasi. cittācittaṁ suṣṭhu jñāsyasi citte. yasmin śāntiḥ sambhavati tribhuvanaḥ tasmin bilīnaḥ.*

Com.—The lacuna in the first part of the commentary renders it unintelligible. The second part is the comment on the second line of the verse—The *samarasa* which has no dual character is the pure and the best [state of the] mind ;—it is by its very nature the pure *bodhi* which is free from encroachment of all objects of senses.

Tr.—Where the positive aspect of the mind merges into, the negative aspect of the mind too merges. The state of communion [of the mind with vacuity] is pure and without any positive and negative character.

12. [pp. 2 ; 44], **Tib.**—The Tibetan translation of this verse is wanting. The com. contains a lacuna but its sense can be made out.

Com.—In the present verse emphasis is laid on compassion towards others. The mind, free from dual knowledge, reaches its amplitude like the *kalpavṛkṣa* which spreads itself in the three worlds. He who thinks "This is mine, that is of others" baffles his Sahaja nature through attachment to *vikalpa.* He is not free though he is so by his nature. So no distinction should be made between self and others.

Tr.—The tree of non-dual mind has attained vastness in the three worlds. It contains the fruit and flower of compassion. There are no "mine" and "thine."

[The verse occurs in Saraha's Dohākoṣa (verse 107, p. 23) under more correct forms as—

addaa cittataruaraha gau tihuvaṇẽ vitthāra |
karuṇā phullīphala dharai ṇāu paratta ūāra |

The form *tihuvaṇẽ* (locative) satisfies the exigencies of grammar better and *dharai* in the second line is preferably a better reading. The comparison of *citta* with tree (*taruvara*) and elephant (*gaja*, *cf.* com. *taruvaraḥ*, *gajaḥ*, etc.) is very common in the Caryās.

Cf. 1. *kāā taruvara pañca bi ḍāla* |
cañcala cīe paiṭho kāla | —Luyī-pāda.
16. *mātela cīa-gaandā dhāvai* | —Mahīdhara-pāda.
17. *gaavara samarasa sāndhi guṇia* | —Vīṇā-pāda.
45. *maṇa taru pāñca indi tasu sāhā* |
āsā bahala pāta-phala-bāhā | —Kāñhu-pāda.

13. [pp. 2 ; 44], **Tib.**—

ran gshan mñam pas sans rgyas rje btsun 'gyur |

It is the tentative translation of the first line of the text. Literally rendered it stands thus—*nijaḥ paraśca samaḥ, buddhaḥ bhaṭṭārakaḥ bhavati.* It therefore seems to have been based on a line like—

para appāṇa sama buddha bhaṭṭāraa saala |

Instead of the translation of the second line of the text, Tib. adds three lines which cannot be traced to the original :—

sems ni namkha'i dan du shugs nas thim |
de'i rche dban po lda dan yul rnams dan |
phun po khams na du khams rnam son |

It may be rendered as—*cittaṁ ākāśam praviśati vilīnañca* [*bhavati*]. *tasmin kṣaṇe pañcendriya-viṣayāḥ skandha-dhātu-āyatanāni ca tatra praviśanti.*

Com.—Both the self and others have essentially the same nature. Through Sahaja avoid all errors about it. Hence all the beings become Buddha through this very nature from the beginning.

Tr.—Do not falsely distinguish between self and non-self. All are ever Buddha. The three worlds are the best and sublime stations; mind by its nature is pure.

14. [pp. 2 ; 44], **Tib.**—

gan shig brtan dan gyo ba'i rnam pa kun |
ston pa gos pa med pa ste |
'di la dban par mi bya'o |

= lit. *yadeva niścalaṁ sacalaṁ ca sarvathā śunyaṁ nirañjanaṁ. tatra vicāraṁ mā kuru.*

Com.—*Sacalaṁ* or that which moves is the *sattvaloka* and *niścalam* or that which is fixed is the *bhājanaloka.* The secret of the world is established as being undetermined and solely attractive with reference to the custom of the whole world. *Śūnyaṁ* is that knowledge of truth which is free from all *vikalpa,* is pure and undisturbed by the impurity of the innumerable sufferings accompanied by desire. Do not try to comprehend it by the power of discrimination. As *cintāmaṇī,* though it has a nature of duality, contains the unattainable (?) essence of the world so also the knowledge, though vitiated by error, through discrimination, resolves the essence of the world into different categories like the sphere of merit (puṇya), etc., of the beings. In the next verse the error in the discrimination of *ātmā* (self) and *ātmīya* (of self) is spoken of.

[There are some mistakes in the commentary. l. 17—*savāsanakleśajālakalaṅkavikalaṁ,* if corrected as °*kalaṅkāvikalaṁ* and l. 19 *tathāvikalpakam-,* if corrected as *tathā vikalpakam-* can give the right sense.]

Tr.—Those which are the customs of all are [either] moving or not-moving. [But] the vacuity is free from impurity. Do not judge [it].

15. [2 ; 45]. **Tib.**—

'din bdag go 'don 'gro ba'o |
gan shig ran rig śes par bya |
dri med sems kyi ran bshin la |
gan zig ran rig śes par bya |

The last two lines of Tib. = *nirmalacittasya svabhāvaṁ saḥ svayaṁ jānāti.* This translation is not therefore quite correct. The real meaning is brought out in the Skt. Com. — *nirmala-citta-svabhāvatāṁ kathaṁ so'pi buddhyati.* Hence my restoration of the second line of the text as—*nimmala-cittasahāba so ki bujjhai*—is justified.

Com.—Whosoever takes 'this to be the self' and 'that to be the world' how can he understand the nature of the pure mind? He cannot understand the truth through the obsession of "self" and "things relating to self." In the next verse is described the all-spreading (*i.e.*, the universal) nature of the yogins who concentrate on the truth.

Tr.—He who thinks 'this is self,' 'this is world'—can he understand the nature of the pure citta?

16. [2; 45]. **Tib.**—

bdag ñid 'gro ba bdag ñid saṅs rgyas te |
bdag ñid dri med ciṅ bdag ñid yid la mi byed pa |
de la 'gro ba med ciṅ gos pa med |
= *aham eva jagat aham eva buddhaḥ* |
ahaṁ mala-rahitaḥ ahaṁ amanskāraṁ |
etad niścalaṁ nirgranthakam |

gos pa med—is doubtful. "gos" means cloth and gos med—is the usual Tib. translation of *nagnaka*, *nirgrantha* —*lit.* one who has given up worldly ties. As is evident the last line of Tib. is only an elaboration of the meaning given in the Skt. commentary as *bhavaḥ saṁsārastasya bhañjano bhañjakaḥ*. The Tib. and the commentary support my restoration of the second line as—

hau amaṇasiāra bhavabhañjaṇa.

Com.—I myself am the universe. I am the Buddha. I myself am he who is free from impurity (*nirañjana*) and I am the mental inaction [in person]. *Bhavaḥ* is the cycle of existence. He who destroys it is also myself—Thus does the yogin whose mind is in perfect unison with the reality think day and night that the universe is permeated by the reality.

[The quotation in the commentary also partly occurs in the com. on Saraha's Dohākoṣa (p. 105). The source is mentioned there as the *Hevajra*. It is in fact found in the *Hevajra Tantra*, Chap. VIII (*Srī-Hevajra-mairātmā-yoginī-cakra-mahāyoginināṁ melāpakaḥ paṭalo nāma*). Though there are slight variations in readings in different MSS. of the Tantra which I have examined the present quotation seems to contain the most satisfactory reading.]

Tr.—I am the universe, I am the Buddha, I am [he who is] free from impurity—I am the mental inaction [in person] and I am the killer of the cycle of existence.

17. [2; 45]. **Tib.**—

yid ni rje btsun ṅam khar rje btsun ma |
ñin mchan du ni gaṅ byed lhan cig skyes la... |
= *manaḥ bhagavān khaḥ bhagavatī* |
divārātraṁ yat karoti sahaje [*yojanāṁ*] |

In the xylograph available to me the last word is effaced. But in the Sanskrit commentary the sense is clearly brought out as—*aharniśaṁ sahajena cittaṁ yojayitavyaṁ.* On the strength of the Tibetan translation and the commentary I have restored the second line of the text as—*divārātti sahaje rāhiai. rāhiai* may be justified as a causative form from √*raha*-< √*rakṣ*- ; √*raha* means "to remain," "stay"—hence √*rāha* = to make stay, *i.e.*, *yojaya*—. As regards the restoration of the lacuna in the first line after *manaha* as *bhaavā* there is no difficulty. It is fully supported by Tib. yid ni rje btsun—and Skt. com.—*mano...bhagavān*.

Com.—The mind, *i.e.*, *bodhicitta* is the Bhagavān, the vacuity-like, *i.e.*, *khasama* the great joy which pervades it (the mind) is the Bhagavatī. This is why it has been said in the *Herukarāja Tantra* that Bhagavān has the form of semen and the joy arising out of its satiation is called the *kāminī.* To express the same idea in another way......compassion (*karuṇā*) is

Bhagavān. The vacuity-like, *i.e.*, *śūnyatā* is Bhagavatī. The knowledge of the non-duality of compassion and vacuity is Bhagavatī-Bhagavān. Bhagavatī is not different. Thus should the mind be fixed day and night through *sahaja*. So it has been said in the *Sampuṭa*.—

[The first quotation in the commentary is said to be from the *Herukarāja Tantra*. The first part of the name of the Tantra referred to was broken in the MS. I have restored it as *Śrī-Heruka* as that is the only Tantra of this particular school with the name of which—*rāja tantra* can go. I have not however been able to trace the line in the MS. of the Heruka Tantra in my possession. It is on the other hand found in the *Hevajra Tantra* (Ch. VIII), The complete Śloka occurs there as—

śukrākāro bhaved bhagavān tat sukhaṁ kāminī smṛtā [var. *smṛtaṁ*] |
ekāneka-viyogo'sau kṣaṇādekā parā ratiḥ ||

The second quotation is said to be from the *Sampuṭa*. The full title of the text is *Sampuṭodbhava-kalparāja Tantra* (A.S.B. 3828, 4854). The Śloka occurs also in the *Hevajra Tantra* where it is found in Ch. VIII. The Śloka in its proper form is—

nadiśrotoprabāhena dīpajyoti prabandhavat |
satataṁ tattvayogena sthātavyaṁ ahorātrataḥ |

My restoration of the lacuna at the beginning of the second line as *sahaja*—is wrong. The reading *cāharniśam* given in the quotation spoils the metre. All the MSS. of the *Hevajra Tantra* have *ahorātrataḥ*].

Tr.—Mind is the Bhagavān ; the vacuity is the Bhagavatī. It [mind] should be fixed in the Sahaja day and night.

18. [2 ; 46]. **Tib.—**

skye daṅ 'chi ba dag las grol bar 'gyur |
gshug ma ri yid la rgyun du gnas par gyis |

grol bar 'gyur—means "is free" (*mukta*). But the text and the commentary require *bhrāntiḥ*. The Tib. in my opinion should be corrected as 'khrul bar 'gyur—meaning "is error, illusion" (*bhrāntiḥ*). The Tib. when literally rendered is—

janmaḥ maraṇaṁ ca bhrāntiḥ |
tataḥ cittaṁ nirantaraṁ tiṣṭhati |

The restoration of the second line of the text is supported by the Tib. as well as the com. which has—

tasmāt ātmīyaṁ cittaṁ nirantare sthitam bhavati |

Com.—Birth, *i.e.*, coming into existence, death......That also is complete illusion (*vikalpa*)—so error should not be committed about it. Thus it has been said—death is illusion (*vikalpa*) ; [freedom from this illusion ?] leads to the position of *khecarī*. It has been further said that according to the capacity of realisation the merits of beings [are determined]. *Utpāda* (birth) exists as a fact of perception and not in any other way. So one's own mind is fixed in the *nirantara*. *Nirantaraṁ* is the state in which nothing stands between. It is a state in which vacuity and compassion are inseparable. [One] should never get detached from it.

[I have not been able to trace the two quotations in the com. to their original. The second quotation—*praṇidhāna-vedha-sāmarthyāt satvānām puṇya*......occurs in the comment on verse 14 (*supra*, p. 44, ll. 19-20) under a slight altered form as a part of the commentary and not as a quotation—*praṇidhāna-vedhāt satvānām puṇyādhipatyādi nānābhāgena jagadarthaṁ karoti.*]

Tr.—Do not entertain illusion about birth and death. Then one's own mind will stay in a state devoid of duality.

19. [2 ; 46]. **Tib.**—

'bab stegs dka' thub nags la ma brten cig |
bus dan gtsan sbras bde ba mi rñed do |

dka' thub nags—should be corrected as dka' thub gnas—which means *tapovana* "hermitage ;" bus—should be corrected as—lus—which means *deha* "body." Sbras—does not mean anything, if corrected as 'sbyaṅs' it would convey the sense of 'washing.' Hence gtsaṅ sbyaṅs would convey the sense that is rendered in the com. as—*jala-snānena bāhyarūpeṇa*. Tib. would then literally mean—

tīrthaṁ tapovanaṁ mā sevyatām |
dehaśauce śāntim na prāpsyasi |

Com.—Do not go to external sacred places and hermitages. By bathing in water externally nobody shall get salvation. That is the whole meaning. The only holy place is the mahāyāna. Salvation can be attained by washing away all the impurities of illusion in the stream of knowledge arising from it. That cannot be attained by bathing at external holy places.

Tr.—Do not attach yourself to sacred places and hermitages. You will not attain peace through purity of body.

20. [3 ; 46]. **Tib.**—

chaṅs pa khyab 'jug dbaṅ phyug lha |
byaṅ chub yod bsher gsum la bkur mi bya |

Tib. has lda instead of lha which is clearly a mistake. Tib. literally means—

brahmā-viṣṇu-maheśvara-devān |
bodhisattva trayān mā sevyatām |

The normal translation of *bodhisattva* would be byaṅ chub sems dpa'. byaṅ chub yod bsher—literally is "one who exists in bodhi." The com. has *brahmā viṣṇu maheśvaraśca trayo devā bodhisattvena sarvathā na namaskarttavyāḥ*. These support the restoration of the second line of the text as—*Bohisattva ma karahu sevā.*

Com. The three gods Brahmā, Viṣṇu and Maheśvara should not be worshipped by a Bodhisattva because they belong to an inferior way [of religious belief]. So it has been said in the *Aṣṭasāhasrikā Prajñāpāramitā*—one ought not to offer flowers, incense or light to other gods. Nor should he worship other gods.

[I have not been able to trace the quotation to its original. The first part of the title was broken in the MS., my restoration is hypothetical. It may be as well *Śata-sāhasrikā.*]

Tr.—Brahmā, Viṣṇu, Maheśvara—do not worship [these] gods, oh Bodhisattva !

21. [3 ; 47]. **Tib.**—

lha rnams mchod 'bab stegs ma 'gro shig |
lha rnams mchod kyaṅ thar pa grob mi 'gyur |
=*devān mā pujaya tīrthaṁ mā gaccha* |
devārādhanena mokṣaṁ na prapsyati |

The second line which is lost in the original, is also commented on in the com. as—*bāhyadevatārādhanena tīrthasnānenādhimokṣaṁ na prāpyate*. Hence I have restored the line as—

devapujāhi ṇa mokkha pābā.

Com. The worship of gods made of stone should not be practised. External holy places should not be visited. Spiritual liberation cannot be attained by worshipping external gods and bathing in sacred places.

Tr.—Do not worship the gods ; you should not go to holy places. You shall not attain salvation through devotion to gods.

22. [3 ; 47]. **Tib.—**

rnam par mi rtog sems kyis saṅs rgyas mchod par gyis |
srid daṅ mya ṅan 'das la gnas par ma byed cig |

Tib. has cag instead of cig, but that is evidently a mistake. cig is an imperative affix. Tib.—

avikalpa-cittena Buddhaṁ ārādhyatām |
bhava-nirvāṇe sthitim mā kriyatām |

The com. on the second line is—*bhava saṁsāre nirvāṇe ucchede ca sthithir mā kuru.* These support the reconstruction of the second line as—*bhava-ṇivvāṇe ma karahu re thittẽ* ı

Com.—The knowledge of non-duality is called *Prajñā-pāramitā*. So it has been said by Dignāgapāda—"The knowledge of *Prajñāpāramitā* is non-dual. It is *tathāgata.*" Cultivate it with mind fixed on it. Do not stay in the world of being and the world of annihilation.

[The quotation from the work of Dignāga occurs in other places too. *Cf.* the *Abhisamayālaṅkārāloka* of Haribhadra (ed. Tucci, p. 28) and *Sādhanamālā* (ed. Bhattācharya, I, p. 321) :

Prajñāpāramitājñānam-advayṁ sā tathāgataḥ |
sādhyā tādarthyayogena tacchabdaṁ granthamārgayoḥ |

In *Sādhanamāla* the beginning of the second line is misquoted as *sādhyatādarthayogena tacchabdaṁ.* The particular work of Dignāga from which the śloka is quoted is not mentioned.]

Tr.—Worship the Buddha with unfailing mind. Do not stay in the [world of] being and the [world of] annihilation.

23. [3 ; 47]. **Tib.—**

'śes rab thabs kyi tiṅ 'rjin shugs |
gaṅ tshe mig yo bar ni brtan par byed nus na |
ṅa yi chan ñams myaṅ 'grub par 'gyur |

ñams myaṅ—seems to be a mistake for ñams myoṅ which means according to S. C. Das "experience," but according to Jäschke "delight, enjoyment." '*anuttara*'—the supreme knowledge is also a state of bliss, hence its translation as ñams myoṅ may be justified. The second line of the Tib. is, however, clear. Literally the Tib. may be rendered into Sanskrit as—

prajñopāya-samādhau lagno bhava |
yadi tasmin (?) dṛḍhaḥ bhavitum śakyate |
ātmanaḥ mahā (?) anuttaraṁ sidhyati |

The original verse is defective in meaning as well as metre. The meaning becomes clear if we either correct *jahi* (<*yasmin*) as *jai* (<*yadi*) or take it in that sense. *jahi* and *jai* both are sometimes translated into Tibetan as gal-te ; *cf.* Saraha's Dohākoṣa, verse 7 (*jai ṇaggā bia hoi*=gcer-bus gal-te grol 'gyur na) ; 77 (*-jahĩ tahĩ sama cintassa*=gal-te yid-du oṅ ṅam sñam pa'i sems). The metre still remains defective and *laggahu,* which cannot be corrected as *laggaï* because an imperative is wanted, does not rhyme with *siddhai.*

Com.—The union of *Prajñā* (sapience) and *upāya* (means) is the complete (*advaya*) union of vacuity and compassion. Attach yourself to it and if the mind is fixed in it, there is no doubt that the supreme knowledge of Buddha will be attained.

Tr.—Attach yourself to the union of sapience and means. When one is fixed in that, the supreme [knowledge] is attained.

24. [3 ; 47], **Tib.—**

ji ltar dug ni zos bar gyur pa las |
dug gis kyaṅ ni 'che bar mi 'gyur ba |
de ltar srid pa zos kyaṅ la 'byod pa |
'dod yon gyis ni 'cheṅ bar mi 'gyur ro |

=*Yathā viṣa-bhakṣaṇāt | viṣeṇāpi mṛtyuḥ na bhavati |*
tathā bhava-bhuñjanenāpi | saṁsāra-bandhanaṁ na bhavati |

The second line of the text is commented on as: *tathā bhavaṁ saṁsārasukhaṁ viṣayādikaṁ bhuṅkte yogī* | *na [tu tasya yo-] gino viṣayeṇa saṁsāra-bandhanaṁ bhavati.* Hence there is no difficulty in restoring the second line as—

tima bhava bhuñjai bhavahi na juttā.

Com.—Just as a man versed in the science of poison does not die even after swallowing the poison, in the same way the yogī, though he may enjoy the pleasures of the material world, does not get attached to the world. So it has been said in the *Hevajra Tantra* that the very poison by which all other beings are killed—that poison the man who is versed in its science uses for the purification of poison. By those means, by which others get attached to the world, [the yogī] becomes free from the bondage of existence. Hence in the next verse the efficacy of *karmamudrā* is established.

[The first two lines of the quotation occur also in the commentary on Saraha's Dohākoṣa (p. 83); these lines occur in the 2nd Paṭala, Part II (=12th of the Chinese Tr.) of the *Hevajra Tantra*. The chapter is called: *siddhinirṇayo nāma dvitīya-paṭalaḥ*. The second two lines of the quotation occur in the same paṭala of the Hevajra, but after 3 verses. A similar verse occurs in its 9th paṭala (Part I)—*Viśuddhi-paṭalaḥ*—

Yena tu yena tu badhyati loka-stena tu tena tu
bandhanaṁ mucyate |

The verse however is found in the *Subhāṣitasaṁgraha* (Bendall, pp. 37-38) as a citation from the *Cittaviśuddhi-prakaraṇa* of Āryadeva. Its first line, which has a lacuna in our MS., runs thus—

yena yena hi badhyante jantavo raudrakarmaṇā |

Similar ideas are found in *Jñānasiddhi* (I, verse 15, p. 32).

The word *paluttā* is not met with elsewhere in the Dohās. In Saraha's Dohākoṣa, verse 70, there is a word, *paluṭṭia*. In one

of the MSS. of Saraha's text it is found under the form *paluṭia*. M. Shahidullah, in his glossary, gives its Sanskrit equivalent as *paryasya*. The meaning of *paluṭṭia*, in that context, is clearly that of "returning." Tib. translation is slar yaṅ (Shahidullah gives it as slar yaā through inadvertence). Slar yaṅ has the sense of a 'backward movement' as in slar yaṅ 'gro—*saṁsaraṇa* (rotation; see S. C. Das—*Dictionary*, sub. verb.). In verse 70 of Saraha, *paluṭṭia taha bi paḍei* (Tib. slar yaṅ de ru 'bab) is explained in the commentary as *punaḥ tatraiva patati.* The word is connected with Bengali *pālaṭ* which S. K. Chatterji derives from *pallaṭa* < *paryasta* (§ 243). *Paluttā* under consideration, however, does not seem to have any connection with *paluṭṭa*. *Paluttā* may be derived from *prayukta* on the analogy of *paluṭṭia* < *paryasta*. *Prayukta* in Western Apabhraṁśa is *pautta* (Jacobi—*Bhavisatta Kaha*—Glossar). Is it then an Eastern variant of *pautta*?]

Tr.—As [one] engaged in [the science of] poison swallows the poison, so does one enjoy the world [of existence] not being attached to the world.

25. [3; 48], **Tib.**—

bya'o rnal 'byor pas ṇi las la skyur ni 'debs |
skad cig bshi daṅ 'gyur ba bzi ru de ru sad |
skad cig dga' ba de yi bye grag śes par gyis |
mtshan gshi mtshan ñid spaṅs daṅ [śes]par gyis |

In the 4th line Tib. has sbaṅs which is evidently a mistake for spaṅs, "to abandon." Mtshan gshi mchan ñid—requires a note. S. C. Das quotes Jäschke [*Dictionary*, sub. verb.] and explains mtshan gshi—as the cause of a sign or symptom. mtshan—really means symptom, sign=*lakṣaṇa* and gshi=that which gives origin to a thing and hence *mūla*. Therefore mtshan gshi=*lakṣaṇa-mūla*. mtshan ñid=the sign, the essential characteristic; ñid has the sense of "self," "the very" as in ṅa ñid—"I myself;" hence mtshan ñid=the very sign, or

the essential sign. S. C. Das gives an illustration (*loc. cit.*) to explain the difference between the two expressions—"man is the mtshan gshi of his own mtshan ñid," *i.e.*, one is "the cause" and the other "the caused." Therefore I think that the Tib. translator by—mtshan gshi mtshan ñid, wanted to convey the idea of *lakṣya-lakṣaṇa* which occurs in the Sanskrit Commentary.

The Tib. is explanatory and not an exact translation of the text. When literally rendered into Sanskrit it is—

yogin ! karma mā duṣyatām |
kṣaṇāni catvāraḥ bhavanti bhedāni tatra jñāyatām |
kṣaṇāṇandāḥ catvāraḥ teṣām bhedāni jñātavyāni |
lakṣya-lakṣaṇa-prahāṇaṁ jñātavyam |

The Tib. therefore does not help us much in restoring the second line of the original. I have restored it with great diffidence from the commentary which has...*catvāraḥ kṣaṇāḥ* | *catvāraśc-ānandās-tathaiva parijñāyante.*

Com.—Moments are four, and pleasures are similarly known to be four. [So it has been said in the *Hevajra.*] How can one know the differences in the moments and differences in the pleasure without [practising] *karma-mudrā* ? So *karma-mudrā* should not be slighted. The [ultimate] truth, free from 'the cause' and 'the caused' [*i.e.*, duality] can be realised in this very person. Fix your attention on the goal—the perfect joy (*paramānanda*) in its midst.

[The long quotation is from the *Hevajra*, I, *paṭala* 3, the *Sandhyābhāṣano nāma paṭalaḥ*. As the name of the chapter indicates, the verses occurring in it are all garbed in symbolic language (*cf.* my paper on *Sandhābhāṣā*, I.H.Q., Vol. VI, p. 389). The plain translation of the verses is—

"That supra-mundane which is of the shape of the letter *e*, which is adorned in the middle with the letter *vaṁ* is the seat of all kindness—the basket of Buddha's treasures. There the pleasures come into being—are differentiated in the order of moments. These pleasures which have their source in the letter *evaṁ* can be comprehended when the moments are perceived. In order of the four moments [these pleasures are]—*vicitra, vipāka, vimardda, vilakṣaṇa*—the yogins know these. *Vicitra* is of different kinds—embracing, kissing, etc. *Vipāka* is the pleasure which is of an opposite nature—the enjoyment of knowledge. *Vimardda* is excitation [? *ālocanaṁ* of the text should be corrected as *ārocanam*]...*vilakṣaṇa* is different from the other three and is free from passion and indifference. The first *ānanda* is in *vicitra*, *paramānanda* in *vipāka*, *virāmānanda* in *vimardda* and *sahajānanda* in *vilakṣaṇa*."

For a detailed discussion of this analysis of *ānanda* and its striking similarity with the four stages of Brahma, see the introduction.

Karmamudrā, which is said to be the means by which the four moments can be perceived and the four *ānandas* realised, is not explained either in the text or the commentary. It is referred to in the *Subhāṣitasaṁgraha* (Bendall, p. 64) in connection with the different signs of spiritual progress (*adhyātma-nimittam*) thus—*tasmāt karmamudrā upāyatrayabhedena mṛdu-madhyādhimātratayāvagantavyā*—*i.e.*, as there are signs—*nimittas*—in different stages of the spiritual progress so *karmamudrā* should be understood in order of the differences in its method—slow, medium and extreme. The meaning seems to be that for the perception of those signs (*nimittas*) *karmamudrā* should be practised. This practice may be less intense, intense and extremely intense. For further explaining the meaning of *karmamudrā* the *Subhāṣitasaṁgraha* quotes a verse, attributed to *Śākyamitra*—

yathāgnir dārumadhyastho nottiṣṭhen manthanād vinā |
tathābhyāsād vinā bodhir jāyate neha-janmani ||

See *Sarvaśuddhi-viśuddhi-kramaḥ* of Śākyamitra, verse 86, in *Pañcakrama* ed. Vallée Poussin, p. 31.

The implication of this verse is that *karmamudrā = abhyāsa* "practice." *Karmamudrā* is further referred to as *karākhyā-mudrā* in the *Pañcakrama* of Ghaṇṭāpāda quoted in the *Subhāṣita-saṁgraha* (p. 52)—

samaya-mudrā-mahāvogavidhānena vajrasyāgre maṇau bodhicitte gate yādṛśaṁ sukham utpadyate gurūpadeśatas tat samyak samupalakṣya sthirīkṛtya tanmayatām upanītaṁ vajra-dharatvam ihaiva janmani saṁjanayati niyatam evāvicāreṇeti |

dvitīyakramo'pi karākhyā-mudrā-*dvāreṇa pūrvavad upa-lakṣya sthiratāṁ gataṁ bodhicittaṁ śāśvatarūpaṁ paramārtha-nirvikalpa-svabhāvaṁ jātaṁ sadvajradharatvaṁ sampādayatīti* |

Hence it appears that *karma-mudrā* was that yogic practice by which the seminal fluid (*bodhicitta* or *saṁvṛti-bodhicitta*) could be carried to the topmost circle (*vajra-maṇi*) and made to attain a permanent (*śāśvata*), ultimate (*paramārtha*) and undisturbed (*nirvikalpa*) character. It seems that in course of this practice the yogi used to perceive four stages which are described as moments (*kṣaṇa*) and four kinds (probably according to the degrees of intensity) of pleasant sensations (*ānanda*). Evidently all the mystic schools did not believe in the efficacy of the practice. The *Kālacakra* school believed in the practice of *Mahāmudrā*—

karmamudrā-parityaktaṁ jñānamudrāvivarjitam |
mahāmudrā-samutpannaṁ sahajaṁ nānyayā saha ||

(*cf. Vimalaprabhā*, extracts in *Catalogue of Sanskrit MSS.*, Govt. coll.—A. S. B. ; H. P. Śāstrī, p. 74)].

Tr.—Do not slight the karmamudra. [Through it] the different kinds of moments and pleasure may be known.

26. [3 ; 48], **Tib.**—

Kyi ho mchog daṅ dga' bral 'di ni dbyed par bya |
bla ma mchog gi shabs la gus par gyis la legs par loṅ |
= *bhoḥ ! paramānandaṁ viyogaṁ ca vicāritavyaṁ* |
vara-guru-caraṇaṁ suṣṭhu ārādhanena |

[The first line of the text is evidently corrupt as *lehure parama-dhīra ma biārī* does not convey any sense. We have seen from the closing lines of the commentary on the last verse that the present contains instruction about fixing the attention on the *paramānanda* amongst different kinds of *ānandas*. I would therefore correct the text as *lehure parama-birama biārī* | *i.e.*, differentiate between (the two kinds of *ānandas*) *parama* and *virama*. In that case *ānanda-viyoga* of Tib. is to be taken in the sense of *viramānanda*.]

Tr.—Learn to differentiate between parama and virama by adoring well the feet of the worthy Guru.

27. [3 ; 48-49], **Tib.**—

gaṅ shig dga' ba mchog daṅ dga' bral gyis |
kyi ho skad cig der ni lhan skyes rtogs par bya |

The text contains a lacuna to the extent of one leaf (13^{a-b}), hence the original of this verse is completely lost. Only a portion of the Sanskrit commentary is preserved. The Tib. literally rendered is—

yaḥ parama-ānandaṁ bhedaṁ ca [*jānāti*] |
tasmin kṣaṇe sahajaṁ jānāti |

On the strength of this I have made a provisional restoration of the verse as—*parama ānanda bheu jo jāṇai* | *khaṇahi sobi sahaja bujjhai* ||

Tr.—He who knows the highest kind of spiritual bliss knows the Sahaja in a moment.

[The existing part of the commentary consists of two verses which are quoted from the *Hevajra Tantra*, II, Paṭala 4, fol. 29^{b}.

The verses occur there under the following form—

madanaṁ ca pābayet-tāsāṁ svayaṁ caiva pibed vratī |
yasyād-anurāgayet mudrāṁ svaparārtha-prasiddhaye ||

kakkolake bolakaṁ kṣiptā kunduru[*m kuru*]*te vratī* |
tasmin yogye samupana kapura na tyajed-budhaḥ ||

The reading is corrupt in many cases—*pābayet* for *pāyayet* is wrong; *yasyād* is evidently a mistake for *paścād*; *kakkolake* instead of *kakkole* spoils the metre; the fourth line is meaningless; the reading in our commentary is therefore preferable. The verses are garbed in what is called in these texts *sandhā-bhāṣā, i.e.*, symbolic language. *madanaṁ = madya*, wine; *kakkola = padma*, "lotus;" *bolakaṁ = vajra*; *karpuraṁ = śukra*, semen virile [for these words and for *sandhābhāṣā* see my note, *I. H. Q.*, Vol. VI, p. 389 ff.]. The word *kunduru* is explained there as *dvīndriya-yogaṁ* (*cf.* also *dvīndriya-samāpatti, Tathāgataguhyaka*, p. 41) and translated into Chinese as *siang-ying*—"*Yoga, yukta*, the act of uniting." The word is etymologically inexplicable. I think it is also a symbolic word like the others of the list. In the Brahmanical Tantras we frequently meet with words like *kuṇḍagolodbhavaṁ dravyaṁ*, etc. The word is used there almost in the same sense as *karpūraṁ* in the verses under discussion. *Kuṇḍa* of the Brahmanical Tantras and *kunduru* of the Buddhist Tantras therefore seem to be synonymous, both meaning "the sexual act," and by analogy the *samādhi, i.e.*, the state of complete concentration.]

In Tib. there is an additional verse after verse 27.

yon tan rin chen [der nī] saṅs rgyas gnas bya ste |
'dod pa mo yi ze 'brul ni 'di ñid śes par bya |

=*jñāna-ratna-bhede Buddhaḥ vasati* | [?]

28. [3 ; 49], **Tib.**—

skad cig bye bral de ru lhan skyes gaṅ śes pa |
de ni tshe 'di ñid la rnal 'byor par brdsad do ||

The Tib. is not an exact translation of the original—

=*kṣaṇa-bhede tasmin sahajaṁ yaḥ jānāti* |
iha janmani atraiva saḥ yogī bhaṇyate |

The Tib. omits *ānanda* (*khaṇa-ānanda bheu*) in the translation. But as the different grades of spiritual joy have been described in the previous verse, emphasis is placed on the different moments (*khaṇa*) in which those grades of spiritual joy (*ānanda*) are realised. The first line of the Tib. seems to have been based on an original like *khaṇa bhedahi sahaja jo jānai*—"he who knows of the Sahaja in the different moments."

Com.—He who realises the distinction between the moments and the joys comes to be called the Yogi even in this life on account of his acquaintance with truth and the way to its attainment.

Tr.—He who knows the difference between the moments and the joys comes to be called the Yogi in this life.

After this the Tib. adds the following, for which we have no original:—

thog ma tha ma gzuṅ ba lhan [skyes] bstaṅs |
bla ma mchog gi shabs gñis med bstan |
mig yo dri med rnam par rtog pa med |
śar ba nub pa spaṅs pa 'di ni sñiṅ po yin |
'di ni mya ṅan 'das par rab tu brdsed |
yid kyis rgyal gaṅ du chad gyur ba |

=*ādi-anta-yuktaṁ Sahajaṁ vivarjaya* |
varaguru-pādena advayaṁ deśitaṁ |
cakṣuṣā nirmalaṁ na viśeṣeṇa dṛṣṭam |
udayāstavarjitam etadeva sāraṁ |
atra nirvāṇa-lābhaṁ kathitaṁ |
citta-jayaṁ yat svīkṛtaṁ |
For the first two lines see verse 6.

29. [3 ; 49], **Tib.**—

skyen daṅ yon tan spaṅs pa 'di ni don dam mo |
raṅ rig la ni gaṅ yaṅ med |

=*doṣa-guṇa-rahitaḥ eṣaḥ paramārthaḥ* |
svasaṁvedane kimapi nāsti |

The Tib. renders the meaning quite correctly, but the Sanskrit commentary in its present form is defective. *Saasambeaṇa* of the text is taken as instrumental and the second pāda is thus commented on—*svasaṁvedanena kenāpi nārthaḥ prayojanaṁ*. This seems to be wrong. *Svasaṁvedana* is the highest state of spiritual realisation—a state which is free from duality and is absolute (*pāramārthika*). In the present verse that state is being eulogised as "free from merit and demerit" (*guṇa-dosa-rahia*) and as "the absolute" (*paramattha*). It therefore seems that *saasaṁbeaṇa* of the text should be corrected as *saasaṁbeaṇe*, a locative form, and the commentary should be corrected as *svasaṁvedane kimapi nāsti....*

Com.—This absolute [state] is free from merit and demerit ; there is no need (?) of self-realisation. Merit should not be attributed to that state. Demerit should therefore be removed from it. So has it been said—"nothing should be removed from it, nothing should be thrown into it. Elements should be seen in their proper light. He who has seen [the real nature of] the elements becomes free."

Tr.—It is the ultimate truth, free from merit and demerit. There is nothing [*i.e.* no merit or demerit] in what is realised by the self.

30. [4; 49], **Tib.**—

sems daṅ sems med rtag tu spoṅs |
kyi ho lhan cig pa'i raṅ bshin du na gnas par bya |

=*cittam acittaṁ ca nityaṁ varjaya* |
bho ! sahaja-svarūpe sthitiṁ kuru |

Com.—The commentary consists of two verses quoted from the *Hevajra Tantra* (*Paṭala* II, 1, fol. 21), where it

occurs under a little different form—

sarvacitta[*ṁ*] *parityajya devatāmūrti-cetasā* |
dinamekam avicchinnaṁ bhāṣayitvā parīkṣatha |
nānyopāyo'sti saṁsāre svaparārthaprasiddhaye |
sakṛdabhyāsitā vidyā sadyaḥpratyayakāriṇī |

[*bhāṣayitvā parikṣatha* for *bhāvayitvā parikṣatha* is wrong; *nityaṁ* in the first line quoted in the commentary is hypermetrical.] "By abandoning all kinds of thoughts with the mind fixed on the form of the deity and by thinking that it is one continuous day, realise [it yourself]. There is no other means in this world for one's own spiritual success or for those of others. The vidyā even once practised renders immediate success."

Tr.—Abandon always the mind and the non-mind. Fix yourself in the very nature of Sahaja.

31. [4; 49-50], **Tib.**—

[skye ba med ciṅ 'che ba med |
rtsa ba med ciṅ rtse mo med ||]
'oṅ ba med ciṅ 'gro ba med |
gaṅ du yaṅ ni mi gnas so |
bla ma'i man ṅag gis ni sñiṅ la chuṅ |

=[*janma nāsti maraṇaṁ nāsti* |
mūlaṁ nāsti śikharaṁ nāsti ||]
āgamanaṁ nāsti gamanaṁ nāsti |
kutrāpi na sthānam asti |
gurūpadeśena hṛdayaṁ praviśati |

Com.—The truth does not come from anywhere, does not go anywhere. It does not stay in any place. So it has been said in the *Aṣṭasāhasrikā*—"Oh! Kulaputra, thatness (*i.e.*, truth) neither comes nor goes. It is without any motion. In that way, oh! Kulaputra, the coming and going of the Tathāgata

never takes place," etc. Such a truth reaches the soul through the teaching of the Guru. Colourlessness of truth is described in the next verse.

Tr.—[It] does neither come nor go; [it] is not anywhere. [It] enters the soul through the instruction of the Guru.

32. [4 ; 50], **Tib.—**

kha dog sbaṅs śiṅ rags med pa |
snaṅ ba thams cad de la jogs

varṇaḥ varjitaḥ ākṛtihīnaḥ |
sarvarūpe sa paripurṇaḥ |

The second line of the Tib. does not quite agree with the original. The original—*sabbāāre so sampuṇṇā* means it is complete in all the forms. Snaṅ ba—may be taken in the sense of *rūpa* or *ākāra*—that which is manifest.

Com.—It is devoid of colour, form, etc. (?) It has been said in the *Paramārthastotra*—"colours like red, yellow and grey are not begotten by him. [He does not beget colours like] yellow, black and white. Obeisance to thee, the colourless!" Devoid of form, that is to say devoid of hands, mouth, etc. So it has been said—"Neither large nor short, neither tall nor round—with a nature that is beyond measure. Obeisance to thee, the Immeasurable." Still he is completed by all the forms.

Tr.—Colour is also abandoned [by it]. It is devoid of form; [but still] it is complete in all forms.

33. [4 ; 50], **Tib.—**

yid ni gsod la sems ni rtsa ba med par gyis |
sems kyi lhag ma zug rṅu thoṅ |
'di ru sku bshi phyag rgya bshi |
khams gsum ma lus de che dag |

manaḥ māraya citte nirmūlaṁ |
cittasya avaśeṣaṁ duḥkhaṁ sambhūtaṁ |
atra catvāraḥ kāyāḥ catvāraḥ mudrāḥ |
tribhuvane sarve [te] mahāntaḥ |

As is evident, except the first line the Tib. does not follow the text. The MS. is so much dilapidated in this place that I have not been able to make anything out of the commentary. However, my restoration of the lacuna in the first line of the verse as *lahu citte* is supported by the Tib. and the commentary. The com. has *laghu śīghraṁ māraya*. My restoration of the second line as *ta[hĩ mahāmu]dda tihuanẽ ṇimmala* is partly supported by the Tib. and partly by the portions of the commentary—*mahāmudrāḥ prāpyante...sarve te śuddhabhāva hi.*

Tr.—Kill this mind in the citta completely without delay. In that the mahamudra is pure in the three worlds.

34. [4 ; 51], **Tib.—**

bdag daṅ bgro ba khams gsuṁ stoṅ |
dri ma med pa'i lhan cig skyes pa la |
dge daṅ mi dge gaṅ yaṅ med |

=*ahaṁ jagat bhuvanāni trīṇi ca śūnyaṁ* |
nirmale sahaje śubhāśubhau na staḥ |

The second line of the verse has been restored from the Tib. as *ṇimmata sahaje ṇa pāpa ṇa puṇṇa.*

Com.—Myself is vacuity on account of its dealing with the illusory (world); the world is vacuity because it is itself illusion and the three worlds are also vacuity. The highest bliss lies in sahaja which is pure, *i.e.*, free from impurity. Merit and demerit are not produced in it. So has it been said —the great knowledge which is without impurity lies in the

self-illumined halo of light. Can the question of merit and demerit arise in the absence of *vikalpa, i.e.*, illusion?

Tr.—Myself is vacuity, all that moves is vacuity, the three worlds are vacuity. There is no sin and merit in the pure sahaja.

35. [4 ; 51], **Tib.—**

yid ni gaṅ du 'gro ba dod pa |
de la 'khrul par ma bya'o |
mig ni mi rjums pa dag gis |
bsam gtan gyis ni gnas par bya |
slob dpon chen po Tai. lo. pas mrjad
pa'i do. ha. mrjod ces bya ba rdsogs so |

manaḥ tatra gacchatu yatra icchati |
atra bhrāntiṁ mā kuru |
ālokanam udghāṭya |
dhyānena sthitiṁ kartavyaṁ |
Mahācārya-Tailopāda-bhāṣitaṁ dohākoṣaḥ samāptaḥ

Tib. does not faithfully translate the beginning of the second line. The original *adha ughāāyi ālaanẽ*...implies many more things than that conveyed by the Tib.

Com.—Let the mind go wherever it likes [to go]. Do not entertain any misconception about it. [Tillopāda] speaks of the way by which the mind has to go. It arises from below *i.e.*, the *nirmāṇacakra,* and by opening, *i.e.*, by freeing the way of the *Avadhūtī* with the help of light, *i.e.*, the meteor of the fierce fire (*caṇḍāgni*) of knowledge and by meditation gets itself seated in a position of great bliss. This is briefly the meaning here. The aim is to fix the mind in the *mahāsukha-cakra* through the yogic meditation [called] *caṇḍālī* or [in other words] to make the sahaja manifest.

The commentator takes the word *āloaṇẽ* to mean light, *i.e., āloka.* The Tib. however correctly takes it in the sense of *ālokana, i.e.,* eye. It is the spiritual sight that is spoken of. When this sight is attained the mind [*i.e.*, the psychic power] rises from its original seat—technically called the *nirmāṇacakra*—where it lies dormant. *Avadhūtī* is the central nerve (*nāḍī*), called *suṣumnā* in the Brahmanical Tantras. The psychic power travels upwards by this channel and by stages reaches the highest seat called the *mahāsukha-cakra* (called *sahasradala-padma* in the Brahmanical Tantras) where it attains permanent bliss.

Tr.—Let the mind go wherever it likes [to go]. Errors should not be made in this place. By opening the below with [spiritual] eyes I become fixed through dhyana.

II

THE DOHAS OF SARAHAPADA

[Text pp. 5-6]

These dohās, as stated in the Introduction, are contained in one of the leaves (with the doubtful page-mark 2) of the MS. C discovered in the Darbar Library. The MS. C contained the Dohās of Saraha ; his name occurs in verses 3 and 10 (the numbering of the verses is mine): *Saraha bhanai jiṇaguṇa ettavi* [3] and *Saraha bhanai attattha bi sāra*...[10]. The page formed evidently part of a separate *Dohākoṣa* of Saraha, hitherto unknown. It is not found in any of the similar works of Saraha, now preserved in the Tibetan translations. This is why I have not been able to settle the text to my entire satisfaction. But the difficulties are very few as the MS. C is in an excellent condition.

[1]. As the first line is lost, the exact meaning of the verse cannot be brought out. *ṇiccalan* < *niścalaṁ* probably refers to one of the worlds of the *kāmadhātu* "the element of desire." The same world is mentioned in verse 14 of the Dohākoṣa of Tillopāda—*sacala ṇicala jo saalācāra*; it is explained as "*sacalaṁ sattvalokaḥ niścalaṁ bhājanalokaḥ*." The first is the world of beings (*sattvaloka*) and the second the world of receptacle. That both these worlds are illusory is clearly stated in a citation contained in the *Subhāṣitasaṁgraha* (Part I, p. 19)—

sattvalokam atha bhājanalokaṁ |
cittameva racayaty aticitram ||

While commenting on the expression *sthānavījñapti* "la notification d'emplacement" of *kārikā* 3 of Vasubandhu's *Triṁśikā* Sthiramati says that it is the same as the notification

MS. C [Sarahapāda]—leaves 2b (=p. 6), 2b (=p. 8)

of the disposition of the *bhājanaloka* (*bhājanalokasaṁniveśa-vijñaptiḥ*). This form of *vijñapti* also is not known in full consciousness because it functions with an object and an indefinite form *sā'pyaparicchinn-ālamban-ākārapravṛttatvād asaṁviditetyucyate* [Lévi—*Vijñaptimātratāsiddhi*, p. 19, Part II, p. 73. *Cf.* also Poussin—*Siddhi*, p. 135; *Abhidharmakośa*, III, pp. 1-138]. It is called the *bhājanaloka*, the receptacle world, as it consists of the germs (*bīja*) which when matured give rise to the phenomenal world. This is probably why in the *Abhidharmakośa* it has been described to be thick, solid and not easily conquerable even by the *vajra*. The *dohās* as a practical code of *sādhanā* insist on its conquest and on raising the mind to a higher level.

Tr.—Do not meditate on the inanimate. Do not wish selfhood.

[2]. *alio dhamma*=the illusory phenomena. *Dhamma* is taken here in the sense accepted in the Mahāyāna philosophy. The second line: *lavaṇo jima pāṇīhi bilijjai* is taken from the classical simile used for describing the Brahma. In the *Chāndogya-upaniṣad* (VI. 13) Uddālaka Āruṇi asks his son Śvetaketu to throw some salt in water and to bring it to him on the morrow. On the morrow Śvetaketu brings the water to his father and does no more see the salt. On being asked to taste it Śvetaketu tastes it from all parts and replies that it is all salted. Then his father says that the being (*sat*) is also like that, it is everywhere but not perceived, that is the only reality, the *ātman*. In the *Bṛhadāraṇyaka* (II. 4. 12) the *ātman*, the ultimate reality, is described in similar words: *sa yathā saindhavakhilya udake prāpta udakamevānulīyeta*.

Tr.—The illusory phenomena enter into [i.e., disappear in] the great bliss (Mahāsuha) as salt disappears in the water.

[3]. *ettavi*—*Cf.* Saraha's *Dohākoṣa*, verse 37—*etta* and verse 61—*etavi*; *etta*, *eta* < MIA *ettia* means "so much, so many."

patthā (Western Apabhraṁśa *panthā*) < *pathin* seems to be an irregular form. It may be a copyist's mistake for *panthā*.

Tr.—Saraha says—So many are the merits of the jina. Such is the way, such is verily the ultimate reality.

[4]. This verse is full of mystic implications ; *ṇittaraṅga cakka* literally means "the wheel which has no movement." *Cakka* is evidently the same as referred to in *maṇḍala-cakka* ; *cf.* Saraha's *Dohākoṣa*, verse 24 *ṇitta puṇu puṇu cakka bi bharante* ; verse 98, *ṭhia-ṇimmāṇe ṇimmiaü tena bi maṇḍala-cakka* ; the Dohākoṣa of Kāṇha, verse 9, *maṇḍala-cakka bisaya-buddhi lai parimāṇaha* ; verse 18 *maṇḍala-cakka-vimukka acchaũ sahaja-khaṇehī*: Miscellaneous Collection (p. 37)—*ṇau so maṇḍala-cakka bhāti suṇṇa-sahābe svaccha*. Dr. Sahidullah always translates the expression *maṇḍala-cakka* as "le cercle magique et la roue tantrique" and thinks that the real significance is that one who has taken the mind to the state of vacuity has no need of these circles and wheels (*loc. cit.*, p. 94). But that does not seem to be the correct interpretation. From the references given above it is clear that the real nature of the state of vacuity (*suṇṇa-sahāba*) is pure, it is free from all shadows of the *maṇḍala-cakka*. So at the time when the *sahaja* state is attained (*sahaja-khaṇehi*) the mind is absolutely free from the *maṇḍala-cakka*. So it indicates a lower state of the mind in its march towards the state of vacuity. The real nature of the *maṇḍala-cakka* can be determined by a thorough knowledge of the objects (*viṣaya*) and this nature is such that it persists even when the immovable region of the mind is attained (*ṭhia ṇimmāṇe ṇimmiaü tena bi maṇḍalacakka*). *Maṇḍala-cakka* then means the same thing as the *bhājana-loka* already discussed. It is immovable and though beyond the objective world is still the receptacle of the objects of knowledge (*ālambana*). The description of the *bhājana-loka* as given in the *Abhidharmakośa* (III, p. 139) helps in clearing the sense : "il est solide ... le *vajra* se briserait sans que le cercle de vent soit entamé." This "cercle de vent" is comparable to the *pavaṇa* of our text. This *pavaṇa* or *maṇopavaṇa* is often referred to in the Dohā text. It holds the mind under its firm control when the *maṇḍala-cakka* state or the world of receptacle is attained. But when the *Yogi* attains a higher state in his march the 'circle of wind' breaks, his mind gets rid of the *maṇḍala-cakka* and the state of absolute vacuity is reached. This seems to be the real significance of the present *Dohā*.

Tr.—The immovable circle is without success (i.e., fails). The (rush of) wind breaks down in the grasp of one's own mind.

[5]. **Even the citta disappears, the acitta comes into existence. [The real state] dawns clear through the instruction of the excellent teacher.**

[6]. The tone of this and the two following verses is similar to that expressed in verses 19-21 of the Dohākoṣa of Tillopāda and in the opening verses of the Dohakoṣa of Saraha.

Mantaha is in genitive singular=*mantrasya*, *paḍila bhitti* means "the wall that has fallen down" ; *paḍila* is the regular past participle form < *patita*.

Tr.—There is no peace in muttering the mantras. Can the fallen wall rise up?

[7]. *Agghāï*, *cf.* the western Apabhraṁśa form *agghāiya* < āghrāta.

Tr.—Looking at the fruit in the tree is not smelling it. Does the disease fly away at the sight of the physician.

[8]. The second line of the verse : *andhā̃ andha kaḍāva tima beṇṇa bi kūba paḍeï* has a striking similarity with a line of Kabir (*Kabir-granthāvalī*, p. 2) : *andhai andhā ṭheliā dūnyũ kūpa paḍanta* (when the teacher and the disciple are both blind) it is like one blind man leading another and both falling into

the well. The simile is a popular one. *Kaḍāva* requires an explanation. It is derived with the MIA *kaḍḍhati, kaḍḍhi* <*karṣati,* to draw out, drag, pull, etc., *cf.* Bengali *kāḍā* "to snatch away."